

ज्ञानार्णव प्रवचन

प्रथम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितम् ।
निष्ठितार्थमजं नौमि परमात्मानमव्ययम् ॥१॥

परमातत्त्वको नमस्कार—ज्ञानरूपी लक्ष्मी के दृढ़ आश्लेषसे उत्पन्न हुए आनंदसे जो नंदित है, निराकुल है, समृद्ध है, कृतकृत्य है, अजन्मा है, अविनाशी है ऐसे परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ। इस ग्रन्थका नाम ज्ञानार्णव है। अर्णवका अर्थ है समुद्र, ज्ञानार्णवका अर्थ है ज्ञानरूपी समुद्र। इस ज्ञानार्णव नामक ग्रंथके कर्ता पूज्य श्री शुभचंद्र आचार्य हैं। वे इस ग्रंथके आदिमें मंगलाचरण भी ज्ञानशब्द से शुरू कर रहे हैं। इस मंगलाचरणमें कितनी दार्शनिक दृष्टियां भरी हैं, जो पढ़नेमें तो सीधा लग रहा है, किंतु अनेक दार्शनिक दृष्टियां इसमें हैं।

ग्रन्थकर्ताका परिचय व वैराग्य—शुभचंद्र और भर्तृहरी ये दोनों राजपुत्र थे। किसी समय इन दोनोंमें भर्तृहरिको वैराग्य हुआ और संन्यासपद धारण किया। शुभचंद्रको वैराग्य हुआ और उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण की। दोनों तपस्यामें जुट गये। भर्तृहरि संन्यासीको तपस्याकी सिद्धिमें एक ऐसा सिद्धिरस सिद्ध हो गया, जिससे तांबेको स्वर्ण बनाया जा सके। शुभचंद्राचार्यने केवल आत्मसाधनामें अपना समय लगा दिया। एक समय भर्तृहरिको अपने भाई शुभचंद्रकी चिंता हुई कि अकेले वनमें क्या करते होंगे और सुना भी है कि उनके साथ कोई शिष्य भी नहीं है तो भर्तृहरिने एक तूमाभर सिद्धिरस एक शिष्य द्वारा शुभचंद्र के पास भेजा और कहा कि हमारे भाई शुभचंद्र वनमें तपस्या कर रहे हैं, उन्हें यह दे आना और इसकी तारीफ भी बता देना। शिष्य पहुँचा शुभचंद्राचार्य के पास और निवेदन किया कि आपके भाई भर्तृहरिने यह सिद्धिरस भेजा है, इससे लोहा तांबा आदि को मनमाना स्वर्ण बनाया जा सकता है। उसे शुभचंद्राचार्यने हाथमें लेकर जमीन पर उस तूमेको पटक दिया। शिष्यने जाकर भर्तृहरिसे कहा कि महाराज! उस सिद्धिरसको तो उन्होंने जमीन पर पटक दिया।

ग्रन्थकर्ताकी सिद्ध सिद्धि—अब भर्तृहरि स्वयं गये और अपने भाई शुभचंद्राचार्यकी स्थिति देखकर उनके मनमें खेद हुआ कि ये कितने तकलीफमें हैं, कोई भी इनके साथ नहीं है, वस्त्र तक भी नहीं रख सक रहे हैं। तब भर्तृहरिने कहा भाई अब तुम क्लेश मत उठावो। हमें यह सिद्धिरस सिद्ध हुआ है, इससे मनमाना लोहा, तांबाका भी स्वर्ण बना लो। तब शुभचंद्रने उस तूमीको एक पत्थरकी शिलापर पटक दिया और कहा कि इस सिद्धिरससे यह पत्थर तो स्वर्ण नहीं हो सका। अब

भर्तृहरीको खेद हुआ कि मैंने १२ वर्ष तपस्या करके इस सिद्धिरसको पाया था और इस तूमीभर सिद्धिरसको जमीन पर पटक कर भाईने कोई बुद्धिमानीका काम नहीं किया। भर्तृहरीने कहा आपने हमारा यह सारा परिश्रम व्यर्थ किया। यदि आपको हमारी कलापर विश्वास न था तो पहिले ही बता देते मैं ऐसा जानता तो क्यों अपना सिद्धिरस इस तरहसे जमीनपर लुढ़काकर व्यर्थ करा देता। आपमें यदि कला हो तो आप अपनी कला दिखावें। अब शुभचन्द्राचार्यने बहुत समझाया कि अरे! तुमको यदि स्वर्णकी इच्छा थी तो राज्यपदमें कौनसी कमी थी, क्यों छोड़कर यहां आये? और उसको प्रतिबोध कराने के लिए शुभचन्द्राचार्यने अपने पैरोंके नीचेकी धूल उठाकर उस पर्वतके उस शिलाखण्ड पर डाली तो वह शिलाखण्ड स्वर्ण हो गया। भर्तृहरीको बड़ा आश्चर्य हुआ, तब शुभचन्द्र ने एक बड़ा उपदेश दिया और यह ग्रंथ बनाया।

प्रभुकी ज्ञानश्री—यह ज्ञानार्णव ग्रंथ सभी संसार संकटोंकी समस्यावोंका समाधानोंको करता हुआ बारहों भावनाओं का बोध करानेके लिए लिखा है। इस मंगलाचरणमें जो उत्तर दिया है उस पर कुछ गम्भीर दृष्टि दें। ज्ञानलक्ष्मीके घन आश्लेषसे जो आनन्द सम्पन्न हुआ, उससे ये परम आत्मा समृद्ध है। प्रथम तो इसमें यह बात घटित हुई कि जैसे बहुतसे लोग अपनी कल्पनासे माना करते हैं कि भगवान और भगवती ये दोनों साथ रहते हैं। देखो यहां लोग कहते हैं ना कि पण्डित-पण्डितानी, मास्टर और मास्टरनी ऐसे ही कुछ लोग भगवान और भगवती भी बोला करते हैं। भगवान और उनकी स्त्री भगवती ऐसा कहा करते हैं, पर वास्तव में भगवान कौन है और भगवती कौन है? इसको समझो। जो ज्ञानलक्ष्मी है, वह तो है भगवती। भगवतः इयं इति भगवती” जो भगवान की चीज हो, उसे भगवती कहा है। कहा है ना कि परमात्मा इस ज्ञानलक्ष्मीके घन संबन्धसे आनन्दित है। यह ज्ञानरूपी भगवती भगवानका स्वरूप है, उससे अलग अन्य कुछ चीज नहीं है। किसी समय चाहे रूपक दिया गया हो, पर उसे न समझनेके कारण फिर लोगोंने उसका सीधा ही अर्थ लगा डाला क्या? ये भगवान हैं और इनके संग जिसका विवाह हुआ, वह उनकी भगवती है और उनके स्त्री-पुरुषके रूपमें लोगोंने फोटो भी बना दिये हैं। पर भगवानकी जो शक्ति है, भगवानका जो स्वरूप है, वही भगवानकी लक्ष्मी है और उस लक्ष्मीसे प्रभु तन्मय रहा करते हैं।

परमात्माके ज्ञान लक्ष्मीका घन आश्लेष—कुछ शब्दोंके शब्दार्थसे भी यही बात पावेगी। लोग कहा करते हैं कि राधेश्याम। राधा शब्द बना है राधु धातुसे, जिसका अर्थ है आत्मसिद्धि और श्यामका अर्थ है काला अर्थात् जो कर्मशत्रुको नष्ट करने के लिये प्रचण्ड हो। कोई अथवा श्यामवर्ण वाला हो नेमिनाथ हुए, पार्श्वनाथ हुए या जो जो भी मोक्ष पधारे हैं, वे श्याम राधामें तन्मय थे अर्थात् आत्मसिद्धिसे वे परमात्मा जुड़े हुए थे। मनचाहे किसी भी रूपमें भगवान और भगवती लोग मानते हैं, किंतु भगवान तो शुद्ध परमात्मतत्त्व है और भगवती उनकी ज्ञानलक्ष्मी है, इसकी जब एकता हो, ज्ञान और ज्ञाता में भेद न रहे। इतने सम्बन्धकी एकता होनेपर जो आनन्द उत्पन्न हो, उस आनन्दसे ये परमात्मा तृप्त हैं और इसी कारण वे निष्ठितार्थ हैं, कृतकृत्य हैं।

प्रभुकी ज्ञानानंदस्वरूपता—कुछ दार्शनिक लोग प्रभुमें आनंद गुण नहीं मानते। उनका मंतव्य है कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार-ये सभीके सभी नष्ट हो जायें, उसका नाम मोक्ष है। ये ६ चीजें जब तक रहती हैं, तब तक जीव संसार में भटकता है और इन ६ का विनाश हो, तब मोक्ष मिलता है। जब इन सबका अभाव हो जाये, तब भगवानका मोक्ष हुआ समझिये। ऐसा उन दार्शनिकोंने कहा है। इसमें परभावका अभाव हुआ यह तो ठीक है, किन्तु इसके साथ ज्ञान व आनंदके अभावको कह डाला, इस अवमतके प्रतिपक्षमें प्रथम विशेषणमें यह बात दिखायी है कि प्रभु आनंदमग्न हैं और ज्ञानशून्य भी नहीं हैं। ज्ञान और आनंद तो परमात्माका स्वरूप है।

जगमगरूपता—जैसे प्रत्येक वस्तु जगमगस्वरूप है। ऐसे ही परमात्मा जगमगस्वरूप है। पदार्थमें कोई नवीन विकास होता है, उत्पाद होता है, वह तो पदार्थका जगरूप है और जो पर्याय विलीन हुई है, वह उस पदार्थका मगरूप है। जो भी पदार्थ परिणमता है, उस पदार्थमें जग और मग होता रहता है। जग मायने वृद्धि और मग मायने अन्तमन। यह जीव प्रतिसमय ज्ञान और आनंदस्वरूप है। ज्ञानके प्रतापसे यह जीव जगरूप रहता है और आनंदके प्रतापसे यह जीव मगरूप रहता है। ज्ञानमें जगना होता है और आनंदमें मग्नता होती है, यों ज्ञान और आनंद प्रभुका सहजस्वरूप है। इसही विश्लेषणमें यह भी बात आ गयी कि ज्ञानका और परमात्मा का घन आश्लेष तादात्म्य है, एकता हो जाती है। इसमें जो लोग ज्ञानको पृथक् मानकर ऐसे ज्ञानके समवायसे आत्माको ज्ञाता मानते हैं उस भेदभावका निराकरण हो जाता है।

कृतकृत्यता—यह प्रभु इस ज्ञानानन्द परिणतिके कारण कृतकृत्य है, निष्ठितार्थ है। निष्ठितार्थका अर्थ है सम्पूर्ण हो गये हैं प्रयोजन जिनके और कृतकृत्यका अर्थ है जो कुछ करने योग्य था सो कर लिया है, अथवा पर पदार्थोंमें जो अज्ञान अवस्थामें करनेका भाव बना रहता था, अब ज्ञान का उदय होने पर, स्वतंत्रता स्पष्ट विदित हो जानेसे अब उनमें करनेका भाव नहीं रहा। यह भी कृतकृत्यता का रूप है। वास्तवमें काम सम्पूर्ण किया हुआ तब कहलाता है जब उसके बारेमें कुछ करनेको नहीं पड़ा रहता है। कोई सा भी आप काम करें वह काम पूर्ण हुआ कब कहलायेगा? जब उसके लिये कुछ करनेको रह नहीं। तो जिस महात्माको ऐसा उज्ज्वल ज्ञान उत्पन्न हुआ है जिस ज्ञानके कारण अब उनको जगत्के किसी परपदार्थमें करनेको कुछ नहीं रहा है तो यही कृतकृत्यपना है। ऐसा यह परमात्मा निष्ठितार्थ है।

निष्ठितार्थ विशेषणसे प्रभुके लोककर्तृत्वका खण्डन—इस विशेषणसे इस मंतव्यका निराकरण होता है जो मंतव्य यह मानते हैं कि प्रभु हम सबको बनाते हैं, इस शरीर की रचना करते हैं, इस जगतको रचते रहते हैं। वे इस युक्तिको जान लेवें कि जो जगत्को रचते रहने वाला या किसी भी थोड़ेसे कार्यविभागको रचने वाले पुरुष हैं वे निराकुल नहीं कहला सकते हैं। हां भले ही यह बात हो कि किसी बड़े गड़बड़ कामको न रचकर कम गड़बड़ कामको रचें तो उसमें यह जीव कुछ सन्तोष

और विश्राम मानता है, लेकिन वस्तुतः किसी भी पदार्थके सम्बन्धमें कुछ भी करने का काम पड़ा हो, विकल्प चलते हों तो वह परमार्थ निराकुलताकी स्थिति नहीं है। निष्ठितार्थ शब्द कहनेसे यह ध्वनित होता है कि ये प्रभु संयोगकेवली अब निष्ठित होने पर कृतकृत्य हुए हैं। इन संयोगकेवलीको किसी भी परपदार्थमें कुछ भी करनेको नहीं रहा, जो कुछ करने योग्य कार्य था सो कर लिया, अब ये कृतकृत्य हैं।

परमात्माकी अजता—परमात्मा अज है। कुछ लोग तो परमात्माकी उत्पत्ति बताते हैं और परमात्मा बारबार उत्पन्न होते रहते हैं अवतार लेते रहते हैं, अवतार का अर्थ है उतरना। किसी बड़ी जगहसे उतरनेको अवतार कहते हैं। किसी बड़ी उत्कृष्ट दशासे उतरकर इस संसारमें जन्म लेनेको अवतार कहते हैं। किसी घटनामें सही, प्रभुका तो जन्ममान लिया गया किसी मां-बापसे पैदा हुए मान लिया। किसी घटनामें जन्म ले लिया अथवा किसी ढंगसे या भूलसे उत्पन्न हो गए, किसी भी रूपमें परमात्माको उत्पन्न हुआ मानते हैं कुछ मंतव्य, लेकिन परमात्मा ही क्या, जगतमें जो भी पदार्थ है, कोई भी पदार्थ किसी भी समय नया उत्पन्न हुआ हो ऐसा है ही नहीं। यह आत्मा सत् भी कभी उत्पन्न हुआ ऐसा नहीं है। प्रकृतमें फिर यह बात कही जा रही है कि परमात्मा हो चुकनेके बाद फिर उन्हें जन्म नहीं लेना पड़ता है, ऐसे अजन्मा परमात्माको नमस्कार किया जा रहा है।

परमात्मत्वकी अव्ययता—यह परमात्मा अव्यय है, अविनाशी है। व्यय अर्थात् विनाश भी परमात्मत्वका हो जाता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। मुक्त होनेके बाद वह पूर्ण अधिकार नहीं है कि ऐसा मुक्त सदा रहे। हां चिरकाल तक वह मुक्त रहा करता है फिर अल्पकाल बीतने के बाद फिर उनको नीचे जन्म लेना पड़ता है और जैसे वहां जीवलोक की रचना है उसी रचनामें रहना पड़ता है, फिर कभी उनसे बन जाय तो फिर उनकी मुक्ति कुछ कालके लिये है। ऐसी मुक्तिको तो नवग्रैवेयक का निवास समझ लो। नवग्रैवेयक स्वर्गसे ऊपर ऊर्ध्वलोकमें होता है, वहां अधिकसे अधिक ३१ सागर तक ही वह सुख भोगता है, उनकी स्थिति अप्रवीचार है, कामवासनासे रहित है, वे मंदकषायी हैं, इनमें कुछ देवता लोग सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, कुछ देवता मिथ्यात्वके आशय वाले भी होते हैं। तो जैसे ग्रैवेयक एक निवास है, वैसा ही बैकुण्ठ समझिये। जितने काल तक वहां निवास है सुखके लिये है जहां कई हजार वर्षोंमें तो कुछ रच भूख लगती है सो कंठसे अमृत झड़ता है, उससे उनकी क्षुधा शान्त हो जाती है और कई पक्षों में कई पखवारों में उनका श्वासोच्छ्वास होता है। जल्दी-जल्दी श्वास निकालने व लेनेमें वेदना होती है। उन देवताओंका ऐसा अद्भुत शरीर है कि कई पखवारोंमें श्वासोच्छ्वास होता है। यहांके लोगोंसे विलक्षण सुख होनेके कारण लोग उसे मुक्ति जैसा रूप दे दिया करते हैं और नाम भी उसका बैकुण्ठ है। ग्रैवेयक कहो या बैकुण्ठ कहो। लोककी रचनामें जिस जगह ग्रैवेयक है वह इस लोकका कंठस्थान है, वहांसे देव अपनी आयु पूरी करके जन्म लिया करते हैं। ये संसारी ही जीव हैं, मुक्त नहीं हुये। मुक्त होनेके बाद ऐसा जन्म नहीं होता है।

ज्ञानानन्दस्वरूपताके कारण परमात्माकी उपासनीयता—मुक्त होनेपर अद्भुत और असीम

आनन्द रहता है, ऐसा मुक्तिका कार्य बन जाना सबके सुगम नहीं है, बड़े ज्ञानयोगपूर्वक बड़ी अंतः तपस्याकी साधनासे यह बात प्रकट होती है। ऐसे अविनाशी परमात्माको शुभचन्द्रचार्य ग्रन्थके मंगलाचरणमें नमस्कार कर रहे हैं। इसमें एक स्पष्ट बात यह भी आयी कि परमात्मा हैं, अवश्य है, न हो तो अवस्तुको कौन नमस्कार करता है और फिर दूसरे सभी लोगोंकी ऐसी प्रकृति बनी है कि कोई कष्ट आये तो वे परमात्माको किसी रूप में स्मरण कर लेते हैं। परमात्मा ज्ञानानन्द स्वरूप ही हैं तभी वे उपासनीय हैं।

आत्मा व परमात्माकी समझ—राजा अपने दीवानके घरके सामनेसे निकला और बोला ऐ दीवान! तुम आत्मापर विश्वास करते हो सो तुम बतलावो क्या आत्मा है और क्या परमात्मा है? दीवानने कहा महाराज आप घोड़ेसे उतर आवो, आध पौन घंटे तक बैठो, तब हम बतलावें कि आत्मा क्या है और परमात्मा क्या है? राजा बोला कि हमारे पास इतना अवकाश नहीं है, हमें तो तुम १० मिनटमें समझा दो। दीवान बोला महाराज हमारा कूसर माफ हो तो हम १० मिनट तो क्या १ मिनट में समझा देंगे कि आत्मा क्या परमात्मा क्या है? राजा बोला अच्छा तुम्हारा कसूर माफ। तुम समझा दो कि आत्मा क्या है और परमात्मा क्या है? दीवान तन्दुरुस्त तो था ही, सो क्या किया कि राजाके हाथमें जो कोड़ा था उसे छीनकर चार-पांच कोड़े राजाके जमा दिये। राजा कहने लगा, अरे रे रे भगवान! दीवान बोलो देखो राजन! जो अरे रे रे करता है वह तो है आत्मा और जिसे तुम भगवान कहते हो वह है परमात्मा। तो भगवानका किसी न किसी रूपमें सभी लोग स्मरण करते हैं।

प्रभुका लोकान्तनिवास व विशेषण सार्थक्य—लोग ऊपरको मुंह करके भगवानका स्मरण करते हैं। यह बुद्धि सबके जगी है कि भगवान ऊपर रहा करता है और वह भगवान कहां तक रहेगा? थोड़ा ऊपर रहेगा तो उससे ऊपर जो जीव होंगे उनसे वह भगवान नीचे हो गया, तो उस भगवानको कितना ऊपर रहना चाहिये सबसे ऊपर रहना चाहिये। सर्व जीवों के ऊपर तीन लोकके शिखर पर उनको रहना चाहिये। सो प्रभु सिद्ध लोकमें विराजते हैं। ऐसे इन ज्ञानानन्दस्वरूप कृतकृत्य अविनाशी परमात्माको नमस्कार किया है। यों सभीके सभी विशेषण बहुत-बहुत महत्व रख रहे हैं जिनके स्मरण करनेसे हम परमात्मतत्त्वके वास्तविक स्मरण पर पहुँच सकते हैं। वे ही विशेषण इस श्लोक में कहे गये हैं। सीधा अर्थ यह है कि जो ज्ञानपुञ्ज हैं, आनन्दमग्न हैं, जिन्हें करनेको कुछ नहीं पड़ा है, और कभी मरेंगे नहीं, जो कभी शरीर धारण करेंगे नहीं, ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप जो परम आत्मतत्त्व है उस परम आत्मतत्त्वको नमस्कार है।

**भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्माभृतपयोधरम्।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥२॥**

वृषभदेवको नमस्कार—प्रथम श्लोकमें परमात्मतत्त्वको नमस्कार किया है, जिसमें किसी साकार व्यक्तिका ध्यान न रखकर केवल जो स्वरूप है, शुद्ध विकास है, उसकी दृष्टि से परमात्माको नमस्कार किया है, क्योंकि यही ज्ञानानन्दस्वरूप वह शुद्ध विकासरूप परमात्मतत्त्व ही एक नमस्कार

करने योग्य है। नमस्कार कहते हैं झुकाव करनेको। हम किस ओर झुकें, कौनसा जगत्में शरण तत्त्व है, जिस ओर झुकनेसे हमें शान्ति मिलेगी और संतोषका अनुभव होगा? वह है परमात्मतत्त्व।

जीवकी वर्तमान परिस्थिति—यह जीव नामक पदार्थ निश्चयनयसे स्वयं ही परमात्मा है। इसका स्वरूप एक प्रतिभासका है और वह प्रतिभास असीम है, परन्तु अनादिकालसे कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण यह जीव अपने स्वरूपकी सुधि भूला है और बाहरी पदार्थों के विषयोंमें अटक गया है, इस कारण यह निरन्तर बेचैन रहा करता है। कदाचित् पुण्योदयसे कुछ योग्य समागम मिल जायें, सुखका साधन वैभव मिल जाये, तब भी तो इससे कुछ पूरा नहीं पड़ता। प्रथम तो वैभव सुखका कारण बने, यह भ निर्णय नहीं है। वैभव पाकर कुछ ऐसी विचित्र कल्पनाएँ जगती हैं कि वह वैभव दुःख का कारण बनता है, सुखका कारण बन नहीं पाता। और कदाचित् कल्पनावश कुछ सुख मान भी ले कोई तो आखिर वियोग तो होगा ही, उस वियोगके कालमें यह जीव दुःखी होगा, क्योंकि संयोगके समयमें ममताकी, हर्ष माना। यों विविध संतापसे पीड़ित यह संसारी हो रहा है।

त्रिविधात्मत्व—जब तक इसका बहिरात्मत्व रहता है अर्थात् ज्ञानातिरिक्त अन्यभाव व परपदार्थ आत्मरूपसे दृष्टिमें रहता है, तब तक इसका नाम प्रसिद्ध शब्दों में जीवात्मा है। जीव अनेक हैं। जो जीव कर्म काटकर सिद्ध हुये हैं, उनका स्वरूप जानकर और उन्हीं का जैसा अपना स्वरूप जाने तो यह अंतरात्मा हो जाता है, महात्मा हो जाता है। इस महात्माके सहजस्वरूपके ध्यानके आलम्बनसे कर्म मुक्त होता है, तब यही परमात्मा हो जाता है। यह बात हम आपमें मौजूद है कि परमात्मा हो सकते हैं, अतएव हमारा झुकाव, हमारी दृष्टि परमात्मास्वरूपकी ओर होना चाहिये, जिससे विकल्प दूर हों और सहज विश्राम मिले।

वृषध्वज श्री वृषभदेव—यों प्रथम श्लोकमें परमात्मतत्त्वको नमस्कार करके अब इस द्वितीय श्लोकमें आजके युगमें जो धर्ममार्ग चल रहा है, इसके जो आदि प्रवर्तक हैं ऋषभदेव, उनको नमस्कार किया है। ये ऋषभदेव वृषध्वज हैं। वृष नाम धर्मका है, वह जिस की ध्वजा है, वे वृषध्वज हैं। वृष कहते हैं बैलको। जिसके जन्मसमारोहके समय ध्वजामें बैलका चिह्न हो, उसे वृषध्वज कहते हैं। ऋषभदेव के चरणोंमें वृषभका चिह्न नजर आया जब इन्द्रकी गोद में जन्मसमय आदिदेवको शचीने दिया और उन्होंने अपनी ध्वजामें वृषभ का चिह्न घोषित कर दिया, तबसे ऋषभदेवका चिह्न वृषभ प्रसिद्ध हो गया। जिस ऋषभ देवने धर्मकी ध्वजा फहराई ऐसे ऋषभदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। जो देवाधिदेव कहलाते हैं, जो भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक इत्यादि सभी देवों के द्वारा पूज्य हैं, उन देवाधिदेवको मैं नमस्कार करता हूँ।

त्रिभुवन जीवानंदी—ये प्रभु तीन लोकरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यकी तरह हैं; जैसे सूर्योदय होता है तो कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं, इसी प्रकार ऋषभदेवका जब जन्म होता है तो तीनों लोक प्रफुल्लित हो जाते हैं जन्मकाल पर स्वर्गमें घण्टे अपने आप बजने लगे, शङ्खध्वनि अपने आप होने लगी, इन्द्रके आसन कम्पित होने लगे, जिससे लोगोंने यह जाना कि तीर्थंकर प्रभुका जन्म

हुआ है। यह तो केवल एक सूचनामात्र थी, पर सभी लोग प्रसन्न होकर प्रभु सेवामें आये। उनके जन्मके समय मनुष्योंमें बड़ा हर्ष छा गया था। तीनों लोकके प्राणीरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये ये ऋषभदेव सूर्यकी तरह हुये। इस विशेषणने भगवानके जन्मकल्याणककी प्रसिद्धि की। भैया! आप यहींकी बात देख लो कि यहीं किसी परोपकारी पुरुषके पुत्र हो तो घरके लोग तो प्रसन्न होते ही हैं, किन्तु गांवके लोग भी बड़ी खुशी मनाते हैं। फिर भला जो एक मोक्षमार्गके विधाता हों, जिससे पहिले १८ कोड़ाकोड़ी सागर तक कोई धर्मका प्रसार न था, समयकी प्रवृत्ति न थी, भोगभूमिका काल था, इतने अधिक कालके विच्छेदके बाद ऋषभदेवका जन्म हुआ सोचिये वह कितने महान् आनंदका समय था?

दीर्घकालीन धर्मविरहके बाद श्री ऋषभदेवका अवतरण—आजका यह समय जो चल रहा है अवसर्पिणी काल है। इस अवसर्पिणीकालसे पहिले उत्सर्पिणीकाल था यह चतुर्थ काल जिसमें पंचमकाल और छठेकालकी स्थिति गर्भित है, एक कोड़ाकोड़ी सागरके आदि में ऋषभदेवका जन्म हुआ। इससे पहिले तीसराकाल था, उसमें २ कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति है। उससे पहिले द्वितीयकाल था, जिसकी स्थिति ३ कोड़ाकोड़ी सागर है उससे पहिले प्रथमकाल था, जिसकी स्थिति ४ कोड़ाकोड़ी सागर है, यों ४ व ३ तथा २ मिलकर कुल ६ कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति है। इस प्रथमकालके पहिले उत्सर्पिणीका प्रथमकाल था, यह पीछेकी ओर बता रहे हैं। प्रथमकाल में ४ कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति थी, उससे पहिले द्वितीयकालमें तीन कोड़ाकोड़ीकी स्थिति थी, उससे पहिले तृतीयकालमें २ कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति थी, ये ६ कोड़ाकोड़ी सागर हुये। उससे पहिले चतुर्थकाल था और तीर्थकी प्रवृत्ति थी। यों १८ कोड़ाकोड़ी सागरके बाद प्रथम धर्मप्रवर्तक ऋषभदेव भगवान भरतक्षेत्रमें हुये। पुण्यनिधान तीर्थकर जैसी पुण्यप्रकृति वाले ऋषभदेवका उदय किसको हर्षकारी न हुआ होगा?

धर्मामृतपयोधर—ये ऋषभदेव धर्मरूपी अमृत बरसाने के लिये मेघके समान हैं। जब ऋषभदेवप्रभु विरक्त होकर तपस्यामें लीन हुए तो उसके प्रतापसे उनको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही तीर्थङ्कर प्रकृतिका उदय आ जाता है। १३ वें गुण स्थानसे पहिले तीर्थङ्कर प्रकृतिका उदय नहीं होता, लेकिन जिस पुण्यशाली जीवके, जिस मोक्षगामी जीवके तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध हुआ है, वह प्रकृति अभी सत्तामें ही है, फिर भी ऐसी विशिष्ट प्रकृति पुण्यके साथ पड़ी हुई रहती है, जिससे गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक ये तीन कल्याणक इन्द्र आकर मनाता है। अभी तो तीर्थकर का उदय नहीं है। तीर्थङ्कर प्रकृतिका उदय १३वें गुणस्थानमें हुआ करता है, लेकिन जो तीर्थङ्कर होगा, जिसकी तीर्थकर प्रकृतिकी सत्ता है, वह इतना पुण्यशाली होता है कि उसके गर्भमें आते ही बड़े समारोह मनाये जाया करते हैं। इन प्रभुने केवलज्ञानी होकर धर्मरूपी अमृतको बरसाया था। इस विशेषण से ज्ञानकल्याणक पर दृष्टि दी गई है।

योगिकल्पतरु—ये प्रभु योगियों के लिये कल्पवृक्ष तुल्य है। योगीजनी इनका ध्यान करके, इनके कर्तव्योंका स्मरण करके अपने आपमें ज्ञानज्योतिका अनुभव किया करते हैं। ऐसे योगिकल्पतरु

ऋषभदेवस्वामीको यह मैं नमस्कार करता हूँ। तीर्थंकर प्रभु बहुत समर्थ होते हैं। यद्यपि लोग यह कहते हैं कि जब भोगभूमिका काल था, कल्पवृक्ष सब फलरहित होने लगे थे, तिर्यज्ज्वोंमें सिंहादि जानवर हिंसक क्रूर होने लगे थे, जब आजविकाका कोई साधन न रहा था, ऐसी विकट परिस्थितिमें ऋषभदेवस्वामीने बहुत ऊँचा कार्य किया, जो कार्य सबसे नहीं बन सकता। सबको विधियाँ बतलाई, सबको अभयदान दिया। वह सब तो प्रभुके लिये लीलामात्रकी बात थीं क्या क्या ज्ञान दिया? लोगोंको बड़ी-बड़ी विधियाँ बता दीं, लेकिन उनके लिये तो कुछ कठिन काम न था, पर हम लोग चूँकि समर्थहीन हैं, अतएव यह एक बहुत बड़ा कार्य लगता है। उन्होंने इस लौकिक दृष्टिसे बहुत ऊँचा कार्य इस कर्म भूमिकी आदिमें किया। केवलज्ञानी प्रभु हुए, तब इनका जो वीतरागस्वरूप सर्वज्ञत का स्वरूप जो मूर्तिके रूपमें साक्षात् दर्शनमें आया करते हैं, उन प्रभुका ध्यान करके योगोजन अपने योगकी सिद्धि करते हैं। कल्पवृक्ष उसे कहते हैं कि जो चाहे सो मिल जाये। अब योगी ऋषिराज प्रभुका निरखकर क्या चाहेंगे? आत्मशांति, मोक्षमार्ग, भेदविज्ञान, आत्मरमण ये सब बातें ऋषभदेवके ध्यानसे योगीजन प्राप्त किया करते थे। अतएव ऋषभदेवस्वामी योगिकल्पतरु हैं, ऐसे देवाधिदेव ऋषभदेवस्वामीको यहाँ नमस्कार किया है।

भवज्वलनसंभ्रान्तसत्त्वशांतिसुधार्णवः ।

देवश्चन्द्रप्रभः पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्रियम् ॥३॥

चंद्रप्रभदेवको नमस्कार—प्रथम श्लोकमें परमात्मतत्त्वको नमस्कार किया है। द्वितीय श्लोकमें ऋषभदेव भगवानको नमस्कार किया। अब इस तृतीय श्लोकमें जैसे कि लोकरुचि में भी जनताकी अभिरुचि है अथवा एक प्रमत्तविरत अवस्थामें ही तो यह ग्रंथ रचा जा रहा है। ध्यानावस्थामें पड़े हुए मुनितो ग्रंथ नहीं रच पाते। सो एक विशिष्ट अंतःप्रभावसे अथवा आचार्यदेवका नाम शुभचंद्र है तो एक चंद्रप्रभका स्मरण हुआ, यों कविके अलंकारमें समझकर चंद्रप्रभका स्मरण अवतरित होता है याने इस तृतीय श्लोकमें चंद्रप्रभदेवको नमस्कार किया है।

संतापहारी—ये चंद्रप्रभदेव भवकी अग्निसे संक्रांत हुए प्राणियोंको शांतिरूपी सुधाके समुद्र हैं। जैसे चंद्रमा समुद्रकी वृद्धि करने वाला होता है। शुक्लपक्षमें जैसे चंद्रमा अपने पूर्ण विकासके साथ उदित होता है, पूर्णचंद्र होता है तो उस कालमें समुद्रका पानी बढ़ने लगता है। नदियां नहीं मिलतीं, फिर भी ऐसा योग है कि उन किरणोंका सन्निधान पाकर जलमें उछाल वृद्धि होने लगती है। ऐसे ही निरखिये ये चंद्रप्रभ भगवान भवके ज्वलनसे संतप्त हुए प्राणियोंके लिये एक शांत सुधार्णव हैं, शांतिके समुद्र हैं अथवा इन प्राणियोंको शांतिसुधाकी वृद्धि करने वाले हैं। कोई जीव अग्निमें ज्वलित हो रहा हो और उसको एकाएक सुधार्णव मिल जाए, अमृतजलको वर्षा उस पर हो जाए तो वह कितना सुखी होता है ऐसे ही संसारके प्राणी इस भवभ्रमणकी ज्वालामें जल रहे हैं, भ्रम रहे हैं। इन प्राणियोंकी शान्तिके लिये ये चन्द्रप्रभ भगवान सुधार्णवकी तरह हैं।

अभीष्टप्रार्थना—चन्द्रप्रभदेव ज्ञानरूपी रत्नाकरकी श्रीको पुष्ट करें; जैसे चन्द्र समुद्र के जलमें

वृद्धि करता है ऐसे ही चंद्रप्रभ भगवानसे अपने ज्ञानवृद्धिके लिये प्रार्थना की गई है। चंद्रप्रभ ज्ञानरत्नाकरकी शोभाको पुष्ट करें। रत्नाकर नाम अर्णवका है, समुद्रका है। जो रत्नों का आकार हो सो रत्नाकार। जैसे रत्नाकारमें अनेक रत्न भरे पड़े हुए हैं, ऐसे ही इस ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे सम्बोधन किया जाएगा और जिस सम्बोधनमें ज्ञानरत्न ज्ञानकिरण प्राप्त होगी। ये चन्द्रप्रभु भगवान मेरे ज्ञान की वृद्धि करें अर्थात् उनके ध्यानके प्रतापसे हम विकारोंसे हटकर निर्विकार चित्स्वरूपका आलम्बन लें। मोहमें प्राणी जिन परतत्त्वोंका आलम्बन कर लेते हैं वे सब परतत्त्व इनके दुःखके कारण बनते हैं। चाहे वह चेतन परपदार्थ हों, चाहे अचेतन परपदार्थ हों, इन परपदार्थोंके आलम्बनसे आत्माको शांति नहीं मिलती। एक निजआत्मतत्त्वके आलम्बनमें ही शांति है। वह ज्ञान मेरे प्रकट हो। जो ज्ञानविकारोंको न ग्रहण करे, किसी परतत्त्वका आलम्बन न करे, केवलज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करता रहे ऐसा ज्ञान हमारेमें पुष्ट होवे।

सत्य विज्ञान—ज्ञान सच्चा वही है जो ज्ञान ज्ञानस्वरूपकी उपासना करता रहे। जो ज्ञान बाह्य पदार्थोंको विषय बनाकर उनमें रत रहता है, वह ज्ञान तो अज्ञान है। अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है किंतु खोटा ज्ञान होता है। यथार्थज्ञानमें निर्विकारताकी प्रेरणा मिलती है। निर्विकारस्वरूपका विकास ही हम आप लोगोंका सच्चा वैभव है। यह वर्तमान वैभव तो तृणवत् असार है।

बाह्य अर्थोंकी अनालम्ब्यता—जैसे स्वप्नमें देखी हुई चीजका कोई आधार नहीं, स्वप्न में देखी हुई सारी चीजें मायामय हैं, यथार्थ नहीं हैं, इसी प्रकार यहांके समस्त समागम असार हैं, मायारूप हैं, स्वप्नवत् हैं, यथार्थ नहीं हैं। जैसे स्वप्न देखने वालेको यह पता स्वप्नमें नहीं पड़ता है कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, यह सब झूठ है, ऐसे ही आंखोंसे यहां जो कुछ भी दिख रहा है, उसे यह पता नहीं पड़ता है कि ये सभी बातें निराधार हैं, ये सभी पदार्थ मेरे आलम्बन करने योग्य नहीं हैं। किसमें अपना दिल रमाकर, किसमें अपना आत्मसंतोष पानेका यत्न किया जा रहा है? बाह्यमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो हमारे हितका साधन हो और आलम्बनके योग्य हो। क्यों परके आलम्बनके पीछे व्यर्थका श्रम बनाकर कष्ट उठाया जा रहा है? कोईसा राग तक भी वो वही बनकर नहीं रह पाता है, क्षण क्षणमें बदलता रहता है। अब वर्तमानमें किसी वस्तुविषयक राग जगा है तो थोड़े समयमें अन्यविषयक राग हुआ, यों रागका परिवर्तन होता रहता है।

आत्महितके प्रसंगों में—भैया! किसी भी परवस्तुके ग्रहणमें हमारा हित नहीं है क्योंकि उन सब अवसरों में विकल्पोंको अवसर मिलता रहता है, किन्तु यह ज्ञान केवलज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करे तो ऐसी स्थिति में अद्भुत आनन्द पानेकी पद्धति बन जाती है और वहां तृप्ति रहा करती है। ऐसा जो ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञानी बन रहा हो वही वास्तवमें ज्ञानी है, ऐसा ज्ञान हे प्रभु मेरे बने, जो ज्ञान ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करता रहे और इस सत्य पुरुषार्थ में हमारा उपयोग जमा रहे ऐसे चन्द्रप्रभदेवका स्मरण करके आचार्यदेव अपने अभीष्ट प्रयोजनको भी रखने जा रहे हैं। अब इसके बाद जैसे लोकरूढ़ि है, लोगोंका एक सहज झुकाव है अथवा ग्रन्थकी आदिमें विघ्नकी शांति करनेके भावसे नाम साम्य है, अतः शान्तिनाथ भगवानको अब नमस्कार करेंगे।

**सत्संयमपयः पूरपवित्रितजगात्रयम् ।
शान्तिनाथं नमस्यामि विश्वविघ्नौघशान्तये ॥४॥**

प्रभु शान्तिनाथको नमस्कार—मंगलाचरणके प्रसंग में प्रथम छंदमें परमात्मतत्त्वको, द्वितीय छंदमें श्री ऋषभदेवको और तृतीय छंदमें चन्द्रप्रभु भगवानको नमस्कार करके अब इस चतुर्थ श्लोकमें शान्तिनाथ भगवानको नमस्कार कर रहे हैं। शान्तिनाथ भगवानकी प्रसिद्धि शान्तिकर्ताके रूपमें है। इसका आकर्षण एक तो नामके कारण है कि इस प्रभुका नाम स्वयं शान्तिनाथ है। प्रधान आकर्षण का नाम पर है। नामका भी बहुत बड़ा आकर्षण होता है, फिर इसके साथ ही ये शान्तिनाथ प्रभु पंचम चक्रवर्ती सोलहवें तीर्थकर और बारहवें कामदेव, यों तीन पदके धारी हुए।

प्रभुका आदर्श—चक्रवर्तीको विभूतिका परित्याग करके इन्होंने संयम धारण किया ऐसी चर्या दिखाकर जीवोंको पवित्र किया है। अन्य जीव भी इनकी इस उत्कृष्ट चर्याको निरखकर अपनी अनतःचर्या पवित्र बना लेते हैं। सत्संयमरूपी जलसमूहके पूरसे तीनों लोकोंको जिसने पवित्र किया है ऐसे शान्तिनाथ प्रभुको समस्त विघ्नोंकी शान्ति के लिए नमस्कार करता हूँ। विघ्नोंकी शान्ति इस निर्विघ्न सहजस्वरूपकी दृष्टिमें हो जाती है और परमात्माकी दृष्टि करके जो शान्ति मिलती है वह भी निजका स्पर्श होनेसे मिलती है। वस्तुतः कोई दूसरा प्रभु मुझे शान्त करदे ऐसा नहीं होता, किन्तु प्रभु की प्रभुता निरखकर उस प्रभुताके समान जो खुदमें प्रभुता बसी हुई है उसका स्मरण होता है, उससे शान्ति और समृद्धि होती है।

आत्मप्रभावका प्रभाव—जैसे किसी दुःखी आदमीको निरखकर सेठको दया आती है तो यों ही दया नहीं आ जाती, किन्तु उस दुःखी आदमीको देखकर उसके ही समान अपनेमें दुःख बना लिया कल्पनासे, उससे इस सेठको दया उपजी है। कहीं रास्तेमें कोई प्राणी मारा-पीटा जा रहा हो, गाड़ीमें जुतने वाले भैंसोंको बुरी तरह से चाबुक मारते हुए किसीको आपने देखा तो आपके अन्दर एक दया उत्पन्न हो जाती है। वह दया आपमें यों ही नहीं हो गई, किन्तु उसके दुःखकी तरह अपने आपमें भी कल्पना करके जो दुःख उत्पन्न किया है उससे दया उत्पन्न हुई है। ऐसे ही प्रभुके स्मरणसे परमात्मतत्त्वकी सुधसे एकदम सीधा कल्याण नहीं हो गया, किन्तु परमात्माकी सुधसे अपने आपमें बसे हुए परमात्मतत्त्वका स्पर्श हुआ है उससे इसका कल्याण जगा है। ऐसे ही प्रभुके गुणस्मरणका माध्यम लेकर स्वयंमें एक शुभ कल्पना बनती है। उस कल्पनासे इसे शान्ति प्रकट हुई है।

प्रभुस्मरणमें प्रभुताकी मुख्यता—इस प्रसंगमें शान्तिनाथ प्रभुका स्मरण कर रहे हैं। जैन समूहमें भी २४ तीर्थकरोंमें से प्रायः ऋषभदेव चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ प्रायः इन्हींका विशेषकर नाम आधार लिया करते हैं। इनमेंसे इस ग्रन्थमें भी पार्श्वनाथ और नेमिनाथके अतिरिक्त इन सबको नमस्कारका वर्णन आया है। किसी तीर्थकरको छोड़ दे याने नाम न ले इससे कहीं यह बात नहीं हुई कि वे तीर्थकर नमस्कार के योग्य नहीं हैं या साधारण हैं, किन्तु चलती हुई पद्धतिमें किसी भी प्रभुका नाम ले लें, उस नाममें प्रभुताकी मुख्यता है, नामकी मुख्यता नहीं है। इस कारण

किसी एकका भी नाम लेने पर सब गर्भित हो जाते हैं। जिस घर में ४-६ भाई बसते हैं उसमें किसी एक भाईका नाम ले लेनेसे या किसीका नाम आ जानेसे वे सब भाई संतुष्ट रहते हैं। वे सोचते हैं कि इसमें हम सब आ गए। नाममें प्रभुताकी मुख्यता है और नमस्कार करनेवाला, नाम लेनेवाला पुरुष अपने हृदयमें यह भाव नहीं रखता कि मैं इनको ही नमस्कार करूं औरको नहीं, इस कारण सभी इसमें गर्भित हो जाते हैं।

श्रियं सकलकल्याणकुमुदाकर चंद्रमाः।

देवः श्री व मानाख्यः क्रियाद्भव्याभिनन्दिताम् ॥५॥

श्री वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—श्री वर्द्धमान नामक स्वामी अन्तिम तीर्थकरदेव जो भव्य पुरुषोंके द्वारा वंदनीय हैं, प्रशंसित हैं, वे इष्ट लक्ष्मीको अभिनन्दित, वर्द्धित करें। ये वर्द्धमान स्वामी सकलजनोंके कल्याणरूपी कमलोंके समूहके लिये चंद्रमाकी तरह हैं; जैसे चंद्रकमलको प्रफुल्लित करनेवाला है इसी प्रकार यह वर्द्धमान प्रभु भव्य जीवोंके कल्याणको उत्पन्न करनेवाले हैं। वर्द्धमान प्रभु चूँकि वर्द्धमान नाम हैं न, तो अपनी किसी वृद्धिके लिये वर्द्धमानका नाम विशेषतया लोग चुना करते हैं। वह नामकी समता है। तीर्थकर तो सभी एक समान हैं। इस युगमें इस वर्तमान समयमें जिस धर्म तीर्थको पाकर जिस तत्त्वज्ञानको पाकर हम आप संतुष्ट होते हैं, आकुलता दूर करते हैं, ज्ञानका आनन्द लेते हैं, इस युगमें उस धर्म तीर्थके प्रणेता वर्द्धमान स्वामी हैं। पार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामीके बीचके समयमें धर्मकी हीनता हो गयी थी और अब जो धर्मका प्रवाह चल रहा है यह वर्द्धमान स्वामीके समवशरणमें प्रकट हुए धर्म परम्परासे चल रहा है। इस कारण प्रथम तीर्थकर महावीर स्वामी कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन कर्णधार—प्रभु स्वयं कल्याणसे परिपूर्ण हैं अतएव वे भव्य जीवोंके कल्याणके भी कारण हैं। प्रभु स्वयं कर्मोंका विनाश कर चुके हैं अतएव भव्यजीवोंके विघ्नों के विनाशके कारण हैं। इनके वचन मोक्षमार्ग रूप निकले हैं। ऐसे वर्द्धमान स्वामीसे वाञ्छित लक्ष्मीकी प्रार्थना करना युक्त है। जैसे नाव चलाने वाला खूब चलाता है पर नाव का कर्णधार जो नावके पीछे खड़ा रहता है, एक सूपके आकारका करिया नामक काष्ठका यंत्र लिए रहता है, वह जिस प्रकार से घुमा दे, नाव उस ओर चल देती है। इसमें तो कुछ शक नहीं है कि प्रत्येक जीव बड़ा जागरूक है और निरंतर कार्य करता रहता है। सिद्ध प्रभु हो तो, संसारी जीव हो तो सभी जागरूक हैं अपने काममें और निरंतर चेष्टा करते जा रहे हैं, पुरुषार्थ करते जा रहे हैं। बस जिनको वह सम्यग्ज्ञानका काष्ठयंत्र मिला सम्यग्दर्शन कर्णधार मिला तो वह अपनों चर्याको योग्यपद्धतिमें निभा ले जाते हैं और जिसको यह कर्णधार नहीं प्राप्त हुआ है उसकी नैया तो भवोदधिमें यत्र तत्र डोलती रहेगी।

आशयकी विशुद्धताका स्थान—आत्माके उत्थानके लिये आशयकी विशुद्धता हितपंथका सुनिर्णय होना प्रथम आवश्यक है। यदि हितपंथका निर्णय आशयकी विशुद्धता प्रकट हुई है तो कीचड़में पड़े हुये स्वर्णकी तरह ऊपरसे मलिन भी रहे, गंदा रहे, व्याकुल रहे तो भी सम्यग्दृष्टि जीव

अपने अंतःपुरुषार्थको बराबर बनाये चला जाता है। यह निर्मल है। भीतपर छहों महीने चित्रकारी करनेवाले पुरुष यदि भीतको बहुत स्वच्छ नहीं बनाते हैं तो उनका चित्र बनानेका परिश्रम व्यर्थ है। प्रथम तो उस भित्तिकी विशुद्धि चाहिये। ऐसे ही हम धर्मकार्यमें समय लगाते, श्रम करते, त्याग करते पर एक विशुद्ध आशय बन जाय और हितपंथका निर्णय बन जाय तो हमारे सब काम सफल हैं। यह दृष्टि जगे कि मेरा तो कल्याण सर्व परद्रव्योंसे अलग हटकर केवल ज्ञानानन्दस्वरूप केवल सहजस्वरूप मात्र रहनेसे है। इतना भीतरमें निर्णय होनेपर यह धर्मपालन का अधिकारी है भला, अतः निर्णयको कौन छुड़ायेगा? किसकी जबरदस्ती होगी जो कि अंतःनिर्णयमें कोई विघ्न डाले। कुछ भी करते हुये किसी भी परिस्थितिमें और कितना भी उपयोग बाहर चला जाय तब भी भीतरकी शुभावना भीतर-ही-भीतर इस आत्माका कल्याण कर रही है।

लोकमें जीवकी असहायता—इस लोकमें दूसरा कौन साथी है, कौन शरण है? कौन-सा समागम अभिमानके योग्य है, कौन-सी विभूति यहाँ की हितरूप है? ये समस्त मिले हुए समागम एक दिन क्लेशके कारण बनेंगे। यह वैभव सम्पदा कुछ भी सारभूत नहीं है। यह जग सम्पदा सारभूत होती तो बड़े-बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती इस सम्पदा को त्यागकर क्यों अपनेमें उस केवल निजस्वरूपका ध्यान करते? बहुत-बहुत धक्के खानेके बाद बुद्धि व्यवस्थित बनती है पर इस जीव पर मोहका ऐसा तीव्र नशा है कि बहुत आपत्ति और धक्के खा लेनेके बाद भी इसकी बुद्धिमें व्यवस्थित नहीं आ पाती है। लो कुछ जरा ठीक ठिकानेसे हुये थे एक भवमें बुढ़ापेमें या अन्तिम समयमें कुछ बुद्धि बननेका अवसर ठीक आया था कि तब भी न चेतते तो मरण हुआ व दूसरे भवमें गये, अब वहाँ वही अ आ इ ई फिर पढ़ना शुरू किया, वही मोह-ममता फिर प्रारम्भ हो गयी।

अज्ञानसे उत्तरोत्तर विडम्बना—भैया! प्रथम तो यही बड़ा कठिन है कि बड़ी अवस्थामें इतनी बुद्धि और विवेक व्यवस्थित बन जाय। प्रायः देखा जाता है कि वृद्ध अवस्थामें तृष्णा, क्रोध, अभिमान बढ़ता है उनका आना है कि इसके कमजोरी आई। यह मन जो चाहे वह काम तो कर नहीं सकता, भोग नहीं सकता है और इसने अपनी उन वाञ्छावोंपर पहिले विजय नहीं की, ऐसी स्थितिमें क्रोधका आना स्वाभाविक-सा है। जैसे प्रायः अधिक बीमार आदमी अधिक क्रूद्ध हो जाया करते हैं। जरा-जरा सी बातोंमें उन्हें क्रोध आता है। उसका कारण क्या है? दूसरेको खाते, घूमते, फिरते, मौजसे रहते देख रहा है और अपनेको कहीं मक्खी बैठ जाय तो उसको भी उड़ा सकने में असमर्थ देख रहा है, इस कारण वह दूसरोंको रंगा-चंगा देखकर क्रोध न करे तो और क्या हो? ऐसे ही बढ़ती हुई अवस्थामें प्रायः कषायोंकी वृद्धि होती है। यह बात सब पर लागू नहीं होती अन्यथा तपस्या करना व्यर्थ हो जायेगा। फिर तो यह सोचा जायेगा कि अरे तपस्यासे क्या लाभ बूढ़े होने पर फिर विकल्प आ जायेंगे तो उस तपस्यासे क्या लाभ?

ज्ञानसे उत्तरोत्तर विकास—जिसने ज्ञान नहीं सीखा और वृद्धावस्था तक विषयभोगों में रत रहे उनकी स्थिति बुढ़ापेमें ऐसी बनी है कि जैसे कहते हैं अर्द्धमृतक जैसी स्थिति होना। अब आत्मध्यान

और धर्मपालन क्या करेंगे? धर्मपालन शरीरकी स्थितिके आधीन नहीं है। जो अपने आपमें अपने ज्ञानका दर्शन, आलम्बन, आश्रय करके इस ज्ञानको दृढ़ता है, इस ज्ञानस्वभावको विकसित करता है वह वृद्ध होने पर और भी अधिक चमकता है और भी अधिक प्रकाशमान होता है। इससे कर्तव्य एक ज्ञान प्राप्त करने का है।

ज्ञानकी कमनीयता—ज्ञान भी वास्तवमें वह है जो अपने आपमें शान्ति उत्पन्न करे। जो ज्ञान अशान्ति उत्पन्न करनेका कारण बनता है वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। किन्तु बाह्य धनकी तरह एक धन है। ज्ञान वही है जो ज्ञानीको सन्तोष उत्पन्न करे। यह बात उस ज्ञानमें है जो ज्ञान अपने ज्ञानके स्वरूपका स्पर्श कराता है लोकमें जीव अन्य जीवोंसे अपने आपको अधिक मान लेने पर मैं इन सबसे उच्च हूँ, बड़ा हूँ, इस प्रकारकी बुद्धि बनने पर इस जीवको क्लेश होता है, क्षोभ होता है, मलिनता होती है, तब ऐसी सरलता और नम्रताकी प्रकृति बने कि अपने आपमें उत्पन्न हुये ज्ञानादिक वैभवोंमें इतनी महत्ता न कूत लें कि अन्य जीव इसकी दृष्टिमें तुच्छ जंचने लगें। ऐसी परिस्थिति में वह ज्ञान शान्तिका कारण नहीं होता। तो हमारा ही एक विशुद्ध ज्ञान अपने आपको वाञ्छित लक्ष्मीकी प्राप्ति करा देता है और यह विशुद्ध ज्ञान जिन चरणोंके प्रसादसे प्राप्त हुआ है उन चरणों की कृतज्ञता होनी ही चाहिये। सो यहां वर्द्धमानप्रभुका अभिनन्दन अभीस्पित लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये किया गया है। अब इसके बाद भगवान् महावीर स्वामीके मुख्य गणधर गौतम स्वामीको नमस्कार कर रहे हैं।

श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम् ।

इन्द्रभूति नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ॥६॥

गौतम स्वामीको नमस्कार—जो श्रुत स्कन्धरूपी आकाशमें चन्द्रकी तरह हैं; जैसे आकाशमें चन्द्र की शोभा है इसही प्रकार श्रुत ज्ञानके विस्तारमें यह गौतम गणधर चन्द्रकी तरह शोभित हुये थे, जिनमें संयम श्रीकी विशेषता है। भला ऐसा कोई और उदाहरण है जैसा इस इन्द्रभूति गणधरका है। जो अभिमानवश महावीर स्वामीसे वाद विवाद करनेके लिये गये थे। चल देखें तेरा गुरु कौन हे? मेरा गुरु महावीर है। तेरा गुरु महावीर है अभिमानमें आकर महावीरसे बातें करने उनको नीचा दिखानेके लिये गौतम गणधर पहुँचे। भगवान् महावीरके समवशरणमें प्रथम भागमें बने हुये मानस्तम्भको निरख कर उनका मान चूर होता है और उसी समय बोध होता है। वहीं समवशरणमें दीक्षा ले लेते हैं और मनःपर्यय ज्ञानके धारी बन जाते हैं। इस प्रकारका दृष्टान्त बहुत कम दृष्टान्तोंमें कहीं मिलेगा। गौतम गणधरका इस दिगम्बरी दीक्षासे पहिले भी विशाल ज्ञान था, किन्तु स्याद्वादकी शैलीके बिना सब एकान्तरूप था, अब इतनी दृष्टिके मिलने पर वह समस्त ज्ञान सम्यक् बन गया। ऐसी बुद्धिकी महिमा है ना यहां। इस कारण ज्ञानके प्रसंगमें लोग गौतम गणधरका अभिवादन करते हैं। गणधरका नाम गणेश भी है।

सिद्ध भगवन्तकी विद्यारंभमें आद्यता व गणेशका विद्याधिपत्य—पहिले समयमें किसी बालकको किसी पाठशालामें पढ़ने भेजा जाता था तो सर्वप्रथम पाठ यही दिया जाता था श्री गणेशाय

नमः। श्री गणेशका स्मरण करनेसे भी पहिले एक मंत्र लिखते थे ॐ नमः सिद्धं। जिसका बिगड़कर ओना मासी धं हो गया। यह सबको पढ़ाया जाता था। पुराने लोग हों तो उनको याद होगा 'सी दो वन्नं समामनाया चतुरो चतुरो दासा आदि। ओना मासी धमः 'यह पाठ पढ़ाया जाता था, यह पाठ जैन व्याकरणका सूत्र है जिसका शुद्ध उच्चारण है ॐ नमः सिद्धं, सिद्धावर्णसमाम्नायः। सिद्धको नमस्कार हो। वर्णोंकी परम्परा स्वयंसिद्ध है। कई लोग कहते हैं वर्णपरम्परा अमुककी डमरूमसे निकली, कोई लोग कुछ कल्पना करते हैं। जैन व्याकरण सीधा स्पष्ट बता देता है कि यह वर्ण परम्परासे स्वयंसिद्ध चला आ रहा है। तत्र चतुर्दशादौ स्वराः। आदिके १४ वर्ण स्वर कहलाते हैं इनको स्वर क्यों कहा? स्वयं राजते इति स्वरः। जो दूसरेका सहारा लिये बिना विराजें, शोभें, बोले जा सकें उनका नाम स्वर है। व्यञ्जनोंको आप स्वरकी सहायता बिना नहीं बोल सकते। जरा आधा क (क्) बोलो। कोई नहीं बोल सकता। उसमें स्वर मिलाकर बोला जायेगा। इन सब विद्यावर्णोंके अधिपति गौतम गणधर माने जाते हैं। उन इन्द्रभूति स्वामीको ध्यानकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ। गौतम गणधरने, श्री गणेशजीने शिवपति वर्द्धमान स्वामीकी ध्वनि सुनकर द्वादशांगकी रचना की, चतुर्वेदेकी रचनाकी, प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोगकी रचना की और आप स्वयं शुद्ध ध्यान करके मोक्ष पधारे। उसही ध्यानकी प्राप्तिके लिये श्री गौतम गणेशको यहां नमस्कार किया है।

प्रशान्तमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम्।

भव्यकशरणं जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥७॥

सर्वज्ञशासनके जयवादका उपक्रमपूर्व ६ श्लोकोंमें परमात्मतत्त्वकों, ऋषभदेवको, गौतम गणधरको, शान्तिनाथ प्रभुको, वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार करके अब इस ७वें श्लोकमें श्रीमत् सर्वज्ञदेवके शासनका जयवाद करते हैं।

दुःखशमक सर्वज्ञशासन—इस असार दुःखपूर्ण लोकमें भ्रमते हुए प्राणियोंका यदि कुछ शरण है तो यह सर्वज्ञदेवका शासन शरण है। मोहकी ज्वालामें जल रहे इस प्राणीको यदि कोई शमन कर सकने वाला जल है तो भगवान्के उपदेशमें कहा हुआ जो तत्त्वका मर्म है उसका हृदयमें अवधारण करना, यही इस ज्वालाको शान्त कर सकता है। यह लोक भ्रमवश रागद्वेषकी ज्वालामें जलभुनकर अपने आपके ज्ञानानन्दनिधानका घात किये जा रहा है। यह स्वयं अपने आपही अपना विनाश कर रहा है। यद्यपि इस विकारका निमित्त परपुद्गल हैं, कर्मवर्गणा हैं, आश्रयभूत विषयोंके साधन हैं और ये सब होते हुये भी वे तो निमित्त मात्र हैं, आश्रय मात्र हैं। किस पर बीत रही है और कौन बिता रहा है? इस पर दृष्टि दें तो यही आत्मा स्वयं अपने आपही अपना विनाश करता जा रहा है।

भ्रमजालकी परेशानी—भैया! क्लेश तो है ही, पर भ्रमका ऐसा जाल भी छाया है कि जिन साधनोंसे इसका विनाश हो रहा है, उन्हींको अपनाता जा रहा है; जैसे किसीके कोई रोग है और उस रोगको ही उसका इलाज मान ले, ऐसा विकट भ्रम हो जाए तो उसका इलाज क्या? एक बुढ़ियाके दो बालक थे। एकको कम दीखे, पर सही दीखे। और एकको तीव्र दीखे, पर कुछ पीला दीखे। दोनों

बालकोंका इलाज बुढ़ियाने एक वैद्य से करवाया। वैद्यने दोनों बालकोंका इलाज किया। सफेद मोती भस्म दिया और कहा मां यह दवा लो, इसे चांदीके गिलासमें गायके दूध में मिलाकर देना, दोनों बालकों के आंखोंकी बीमारी ठीक हो जायेगी। बुढ़ियाने ऐसा ही किया। सबसे पहिले जो बालक कम देखता था, किन्तु सही देखता था उसे पीने को दिया। उसने तो उस दवाको पी डाला और जिसे तेज दीखता था पर सब कुछ पीला दीखता था, उसे जब दवा पीनेको दिया तो उसने कहा, मां हम ही तुम्हें दुश्मन मिले। क्या मां! अरे पीतलके गिलासमें गायके मूत्रमें यह हरताल डालकर मुझे पिला रही हो, उसे सब कुछ पीला दिखता था। उसने उस दवाको न पिया, तो एककी तो आंखें ठीक हो गयीं, पर एककी ठीक न हुई। ऐसे ही ये संसारीजन हैं। मार्ग है कुछ और समझ रहे हैं कुछ। इसलिये उनके क्लेशोंको मिटानेका सही इलाज नहीं हो पा रहा है।

आनन्दका धाम—आनन्द निर्विकारतामें है। अपना उपयोग जब विषय और कषायों के आधीन न रहे, निर्विषय निष्कषाय अपने अंतस्तत्त्वको परख लें, उस अनुभूतिमें ही आनन्द है। ये मोहीजन जड़ वैभवोंमें आसक्त हो रहे हैं, इन्हें ही अपना सर्व कुछ मान रहे हैं। सबसे निराले अपने आपके स्वरूपकी इन्हें सुध नहीं होती। ऐसी विकट परिस्थितिमें फंसे हुये इन जीवोंको वास्तविक कोई आलम्बन है तो अब यह सर्वज्ञदेवका शासन आलम्बन है।

सर्वज्ञशासनकी लोकव्यापकताके अभावका कारण—समन्तभद्र स्वामीने सुक्त्यनुशासन में स्तवन करते हुये एक जगह एक प्रश्न स्वयं कर छोड़ा, किस बात पर जबकि इससे पहिले यह स्तवन कर रहे थे कि हे प्रभो! हममें ऐसी शक्ति नहीं है कि आपके गुणोंका वर्णन कर सकें, पर हां एक छोटीसी बात मैं जरूर कह सकता हूँ आपके संबंधमें। वह क्या, हे प्रभो! मैं जानता हूँ कि तुम ज्ञान और आनन्दकी पराकाष्ठा हो। तुम्हारा स्तवन हम और क्या करें, इस बातपर एकाएक यह प्रश्न हो उठता है कि जब वीतराग सर्वज्ञदेवका निर्विकार स्वरूप है, और शासन सर्वहितकारी है तो यह सारी जनता इसे क्यों नहीं मानती? इस स्वरूपसे विमुख होकर अपनी कल्पनासे जो समझमें आया उसको ही अपना स्वरूप मान लेते हैं। वीतरागप्रभुके निर्विकार स्वरूपको सभी लोग क्यों नहीं मानते? हे प्रभो! जब तुम्हारा शासन निर्दोष है, हितकारी है, जो माने उसका भला है, फिर इस शासनका फैलाव इस दुनियामें एकछत्र क्यों नहीं होता?

उसके उत्तरमें उन्होंने कहा है

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।

त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥

हे नाथ! तुम्हारे शासनका एकाधिपतित्व नहीं हो सका। इसका क्या कारण है? उसके ये तीन कारण हैं—प्रथम कारण तो कलिकाल है, दूसरा कारण सुनने वालोंके हृदयमें मलिनता है और तीसरा कारण है कि कहने वालोंको समझाने वालोंको नयोंका अपरिज्ञान है। ये तीन कारण हैं, जिसकी वजहसे आपके शासनका एकाधिपतित्व नहीं हो सका है।

सर्वज्ञशासनके अप्रसारका प्रथम कारण—भगवानके शासनके प्रसारके अवरोधक कारणों का मतलब सुनिये। प्रथम कारण तो कलिकाल है। कलिकालके सम्बन्धमें एक कथानक है कि जिस दिन कलिकाल लगना था, उससे एक दिन पहिले एक पुरुषने अपना मकान बेचा। जिसने खरीदा था, उसने नींव खोदी तो नीचे उसमें अशर्फियोंका भरा हण्डा मिला। वह बेचने वालेके पास पहुँचा और कहा कि आपने जो घर बेचा है, उसके खोदने पर यह अशर्फियोंका हण्डा मिला है, इसे आप ले लो। उसने कहा कि मैं क्यों इन्हें लूँ? ये मेरे नहीं हैं। यदि ये अशर्फियां मेरी होतीं तो मुझे पहिले क्यों न मिलतीं? खरीदने वाले ने कहा कि हमने तो सिर्फ जमीन खरीदी है, ये अशर्फियां मेरी नहीं हैं। दोनोंमें झगड़ा हुआ तो न्याय राजाके पास पहुँचा। खरीदने वालेने बताया कि ये अशर्फियां हमने इनसे जो घर खरीदा है, उसकी नींव खोदनेमें निकली हैं। ये मेरी नहीं हैं। मैं न लूँगा। सो राजाने कहा कि अच्छा! इसका निर्णय कल कर देंगे। अब कलिकालकी रात लगी। सभी अपने घरमें सोचते हैं। खरीदने वालेने सोचा कि मैं क्यों दूँ, पाया तो मैंने? बेचने वालेने सोचा कि मैं कैसा मूर्ख निकला कि वह हण्डा देने आया और मैंने न लिया, अब कल हमीं ले लेंगे। राजाने सोचा कि मैं व्यर्थ में क्यों परेशान होऊँ न्याय करने में? मैं तो कह दूँगा कि यह धन तुम्हारा नहीं है, यह तो राज्यका है। लो यह एक कलियुग की बात बतायी है। हुआ क्या? सो हमें क्या पता? इस प्रकार कलिकालके दोषकी बातें आजकल भी देख लो। लोग दुराचरणसे कितने परेशान हैं? झूठ, धोखा, विश्वासघात और उनके तरहके अन्य दुराचार, हिंसाका इतना प्रचार कितनी ही बातें हो रही हैं, यह सब कलिकालका प्रभाव है। प्रभुके शासनका जो एकाधिपतित्व नहीं हो सका उसका कारण एक तो कलिकाल है।

सर्वज्ञशासनके अप्रसारका द्वितीय व तृतीय कारण—अब सर्वज्ञशासनका अवरोधक द्वितीय कारण सुनिये सुनने वाले भी कलुषित आशयके हैं। उनका मन धर्मकी चर्चावोंमें नहीं लगता, वे अपने मनके अनुकूल उपदेश सुनना चाहते हैं। दूसरी बात सुनने वाले प्रायः इस ताकमें भी रहते हैं कि कहनेकी पद्धतिमें या किसी कथनमें कोई दोष मिले तो उसे बताऊँ ताकि दुनिया समझे कि हां ये भी कुछ है, मेरा जिससे प्रताप फैले। इस प्रकार का दोष श्रोतावोंमें है। जिससे उनका कुछ हितभावसे ज्ञानकी बातें सुननेमें मन नहीं लगता। सर्वज्ञशासनके अवरोधका तीसरा कारण है वक्ताओंको नयका परिज्ञान नहीं है। उनको बोलनेकी कुछ पद्धति भी विदित नहीं है कि कैसे बोलें? उन्हें बोलनेका ढंग ही नहीं आता। नयोंका कुछ पता ही नहीं है। न जाने उनकी कैसी दृष्ट है, कैसी स्थिति है? तो हे नाथ! ये तीन कारण हैं जिससे आपके शासनका एकाधिपतित्व नहीं हो सका।

प्रसार समीचीनताका अहेतु—लोग इस शासनका अनुकरण नहीं करते तो क्या हुआ? पथरोंके ढेर तो लाखों मिलेंगे, पर रत्नोंके ढेर बहुत कम मिलेंगे। कोई किसीको मानने वाले अधिक हैं तो क्या इससे उसकी समीचीनता जानी जाती है? यदि लोकमें मोहको मानने वाले अनन्तानन्त हैं तो फिर मोह अच्छा हुआ और सम्यक्चारित्रके मानने वाले बिरले हैं, अंगुलीपर गिनने लायक हैं तो वह अच्छा नहीं हुआ। ऐसी बात है क्या? अरे, इन विकल्पोंमें क्या सार है? पहिचान कर लो, खूब परख लो और

निर्णय कर लो। जो जैसी बात है, उसे वैसी माननेमें क्यों विलम्ब करते हो? यह तो आपके उपयोगकी बात है।

सर्वज्ञशासनकी भव्यैकशरणा—यह सर्वज्ञदेवका शासन भव्य जीवोंके लिये एक शरण है। यह सारा जगत् मोहसे परेशान है और वह मोह भी व्यर्थका। न कुछ उसमेंसे आत्मामें आता है, न उससे कुछ पूरा पड़ता है। मोहको मिटानेके लिये सम्यग्ज्ञानका प्रकाश ही समर्थ है। मोहका घनान्धकार इस ज्ञानप्रकाशसे मिटता है। जिसके शासनमें वस्तुस्वरूपका निष्पक्ष प्रतिपादन किया गया, जिसमें देव और गुरुकी मान्यतामें भी पक्ष नहीं रक्खा गया, जो निर्दोष हो और पूर्ण गुण सम्पन्न हो वही हमारा देव है। जो निर्दोषतके यत्नमें लग रहे हों, जिनमें गुण विकास भी चल रहा हो, वे हमारे गुरु हैं। जिसमें निश्चयव्यवहार सब निष्पक्ष कथन है, वह प्रकाश हमारे मोहको दूर कर देता है? अपने जीवनमें भी अंदाज कर लो कि सुख परके समागममें मिलता है या विरक्तिमें मिलता है? जिस किसी भी समय आप उदासीन बैठे हुए हैं अर्थात् सर्वपरकी उपेक्षा किये हुये एक ज्ञानदृष्टिमें लग रहे हों, उस समयके आनंदकी, निराकुलताकी परख कर लीजिये और जब परिजनोंके समागममें रहकर मौज माना जा रहा है, उस स्थितिकी परख कर लीजिये। वह विशुद्ध आनन्द कहां है?

सर्वज्ञशासनकी शरणाका कारण—जिस शासनमें वस्तुस्वरूपके अवगमके मार्गसे चलकर जहां मूलसे मोहके विध्वंस करनेका यत्न कराया गया, प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें परिपूर्ण है, यह मैं भी अपने स्वरूपमें परिपूर्ण हूँ, मेरा जो कुछ बनता है, व मेरेमें मुझसे ही बना करता है, किसीका किसी पदार्थमें कुछ करनेका वश नहीं चलता, कुछ अधिकार भी नहीं है। वह वही है, मैं अपनेमें हूँ, जब ऐसी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि बनती है, इस वस्तु स्वरूपके अवगमके प्रतापसे तब वहां मोह नहीं रहता है।

भेदज्ञानमें मोहहारिताका दृष्टान्त—कोई दो पड़ौसी थे। उन दोनोंने अपनी-अपनी चादर एक धोबीके यहां धोनेको डाल दी। धुल जानेपर एक पड़ौसी अपनी चादर बदलेमें दूसरे पड़ौसीकी ले आया और घरमें उस चादरको तानकर सो गया। दूसरा पड़ौसी जब अपनी चादर लेने उस धोबीके यहां गया तो देखा कि यह तो मेरी चादर नहीं है। धोबीने बताया कि तुम्हारी चादर बदलकर अमुक पड़ौसी के यहां चली गयी है। सो आप इस चादरको ले जाइये, उसे दे देना और अपनी चादर ले लेना या वह अपनी चादर यहांसे ले जाये और तुम अपनी चादर उससे ले लेना। वह पड़ौसी गया उसके पास, वहां देखा कि वह उसी चादरको ताने सो रहा है। उसे जगाया और कहा कि यह चादर जो तुम ओढ़े हो, मेरी है, मेरी चादर तुम्हारी चादर से बदल गई है। इतनी बात सुनकर उस चादरको वह गम्भीरतासे देखने लगा। उसे जब अपनी चादरके चिह्न उसमें न दीखे तो समझ गया कि हां यह मेरी चादर नहीं है। बस उसका जो भ्रम था कि यह मेरी चादर है वह भ्रम मिट गया। इस प्रकाशको अब कौन मिटा सकता है? जो एक बार यह समझ बैठ गई कि यह चादर मेरी नहीं है। इसमें तो मेरी चादर के चिह्न भी नहीं हैं, यह ज्ञान हो जाने पर उसमें उसकी आसक्ति नहीं रही, लेकिन सम्भव है कि यदि राग भी हट गया है तो जितनी देर वह चादर उसके तन पर है, उतनी देर भी उसका उस चादर में राग

नहीं उत्पन्न होता, चाहे अभी चादर उतारनेमें कुछ देर लगेगी। अथवा वह चाहता हो कि मेरी चादर पहिले मिल जाये, तब मैं इसे दूँगा। यह जानते हुए भी कि यह चादर मेरी नहीं है, फिर भी परिस्थित ऐसी बना ली अपनी कल्पनामें कि वह विवाद कर रहा है। भले ही विवाद करे, किंतु अब उसको भ्रम तो नहीं रहा। भ्रम मिटते ही भीतरमें उसके चादरका त्याग हो गया। अब इस अन्तःकरणको कौन मेट सकता है?

भेदविज्ञानमें मोहविनाशकता—ऐसे ही जब अपने स्वरूपका पता नहीं है, तब पर पदार्थसे सुख और हित माननेका भ्रम लगा हे और ये ही मेरे हितकारी हैं, ये ही मेरे सब कुछ हैं, यह भ्रम पड़ा है। आचार्यगुरु बार-बार समझाते हैं कि ये बाह्यसमागम, तन, मन, धन, वचन ये तेरे नहीं हैं तू इनको परख। तेरा स्वयंप तो एक चैतन्यमात्र है, उसे निरख, इनको छोड़। क्यों इनको व्यर्थ ग्रहण किये है? ये समस्त बाह्यसमागम असार हैं, भिन्न हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्शके पिण्ड हैं, सदा रहने वाले नहीं हैं। इतनी बात जिसकी समझमें आ गयी, उसके इस भीतरी प्रकाशको कौन मेट सकता है? ऐसी भीतरमें जो ज्योति जगती है, वही शांतिका मार्ग है और यह मार्ग सर्वज्ञके शासनसे हमें प्राप्त होता है। तब ये सर्वज्ञदेव एक शरणभूत हुये ना? इस सर्वज्ञशासनमें आदिसे अंत तक शांति का उपदेश भरा हुआ है। किसी परिस्थितिमें कोई पुरुष किसीसे विवाद भी करे, युद्ध भी करे, विरोध भी करे, प्रत्याक्रमण भी करे, फिर भी यदि वह ज्ञानी है तो उसका झुकाव अपनी आत्मशांतिकी ओर होता है, विवादकी ओर नहीं होता है।

सर्वज्ञ शासनमें शांतिकी प्रधानता—जिस शासनमें आदिसे अन्त तक एक शांतिका उपदेश दिया गया है—ऐसा सर्वज्ञशासन जयवन्त होवो, परम्परा इसकी चलती रहे। इस सर्वज्ञशासनसे लाभ लूट लो। यदि इसका सचमुचमेंलाभ लूटना है तो यह भावना प्रथम होगी कि यह परिपाटी आगे भी चलती रहे। दूसरे लोग भी लाभसे क्यों वञ्चित हों? यह शासन प्रशांत और अतिगम्भीर है। देखो ये जैन शासनके पर्व कितने धैर्य और शांति को प्रसारित करने वाले हैं, सर्वत्र जिसमें अहिंसाका ही विस्तार है। दस लाक्षणीका पर्व आ गया तो क्षमा, सरलता, नम्रता इत्यादिका गुणानुवाद होगा। इनकी ओर दृष्टि जगेगी। अनशन और व्रत इत्यादि उनके प्रकारके सदाचार धारण किये जायेंगे। तो जहां पर इस प्रकारके शांतिका प्रसार करने वाले उपदेश भरे हैं।

विश्वविद्याधाम सर्वज्ञशासनका जयवाद—सर्वज्ञशासनको समस्त विद्याओंका घर कहा जाता है। आध्यात्मिकज्ञान लो, करुणानुयोगका ज्ञान लो, विज्ञान लो, अविष्कारके मूलमंत्र लो, ज्योतिष आयुर्वेद इत्यादि ये सभीकी सभी विद्यायें इस सर्वज्ञशासनसे मिलती हैं। ऐसी कोई विद्या नहीं है, जो सर्वज्ञशासनमें न हो अथवा यह सर्वज्ञशासन सर्वविद्याओंका घर है। द्वादशांगका कितना विस्तार है, इसको समझने वाले स्पष्ट जानते हैं। जो भव्य जीवोंको एक शरणभूत हैं—ऐसा श्रीमत् सर्वज्ञदेवका यह शासन चिरकाल तक जयवन्त रहे। इस प्रकार शुभचन्द्राचार्य इस सर्वज्ञशासनका गुणानुवाद कर रहे हैं।

**प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च।
सम्यक् तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ॥८॥**

सत्पुरुषोंकी सूक्तियोंके प्रयोजन—सत्पुरुष क्यों उपदेश किया करते हैं, उनके उपदेश से जनताको क्या मिलता है? उपदेशके उन प्रयोजनोंको बतानेके लिये यह श्लोक आया है। सज्जन पुरुषोंकी वाणी जीवोंके प्रबोधके लिये, विवेकके लिये, हितके लिये, शांतिके लिये और सम्यकूतत्वोपदेशके लिये प्रवृत्त हुआ करती है। जिस वाणीमें प्रयोजन न हो, प्रत्युत उससे उल्टा ही प्रयोजन निकले तो वाणी एक बकवाद है। वह सूक्ति नहीं कही जा सकती है।

सूक्तिका प्रथम प्रयोजन—जो वाणी जीवोंको प्रबोध दे सके ऐसी वाणी सत्पुरुषोंकी हुआ करती है। जो वाणी रागमें अंधा बना दे वह वाणी सूक्ति नहीं कहला सकती। सज्जन पुरुषोंका उपदेश विशेष रूपसे इसलिये होता है कि लोगोंका सही ज्ञान बने। यद्यपि उपदेशश्रवणका प्रयोजन इतना ही है कि तुम निजको निज जान लो और परको पर समझ लो तथा परसे निवृत्त होकर अपने आपमें लग जावो, किन्तु इतना-सा काम करनेके लिये स्वपरविषयक विशेष ज्ञान होना चाहिये। यद्यपि स्वपरके सम्बन्धमें जिसके जितना भी यथार्थ ज्ञान है वह इतनेसे प्रयोजनकी सिद्धि कर लेता है। फिर भी यह बात आम है, साधारण है कि पदार्थोंके सम्बन्धमें जितना विशेष परिज्ञान होगा, भेदविज्ञानमें उतनी ही निर्मलता आयेगी।

विशद ज्ञानमें विशेष ज्ञानका सहयोग—जैसे एक तो सीधे यह जान लिया कि शरीर जुदा है और आत्मा जुदा है, जैसा कि सभी लोग कहते हैं, देहातों में आबाल गोपाल सभी लोग कहा करते हैं। किसीके मर जाने पर मरघट ले जाते हुये सभी याद किया करते हैं कि शरीर जुदा है, जीव जुदा है। शरीरको छोड़कर यह जीव चला गया, किन्तु विशेष ज्ञानके परिज्ञानकी विशेषता देखिये। यह शरीर एक मायारूप स्कंध है, आहारवर्गणावोंसे बना हुआ है। उन आहारवर्गणावोंमें मूल परमाणु है वह परमाणु कैसा होता है, कैसे स्कंध बनता है और कैसे इन्द्रजाल बनता है? शरीरके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें विदित हों, जीवके सम्बन्धमें बहुत परिज्ञान हो, इसका क्या स्वभाव है, सहज परिणमन कैसा है, साधारण गुणका क्या प्रभाव है, विशेष गुणसे इसमें कौन-सी विशेषता है, कैसा परिणमन है, कैसे यह इन पर्यायोंमें आता है? जिसके विशेष विशेषज्ञान हो, ऐसा पुरुष देहेसे भिन्न जीव है, इतनी-सी बातको कितनी विशदतासे जानता है।

विशेष परिज्ञानकी विशेषकता—प्रयोजनकी सिद्धिमें, शान्तिकी साधनामें पदार्थोंका विशेषपरिज्ञान भी आवश्यक है; जैसे कोई पुराना नौकर है तो उसे सारी बातें मालूम रहती हैं इस कारण उसे थोड़ीसी बात बता दी। लो वह सब इशारेसे ही समझ जाता है और कोई नया ही नौकर आये तो उसे वह थोड़ीसी बात भी समझनेमें कठिनाई होती है। ऐसे ही जिस पुरुषके ज्ञान है, प्रतिभा है वह थोड़ीसी बहुत बात सुनकर बहुत अधिक परिज्ञान कर लेता है और कोई पुरुष जिसके ज्ञान नहीं है, प्रतिभा नहीं है उसे जितना बतावो उतना ही अवधारण करता है। यह सब एक भीतरी प्रकाशका प्रताप है।

प्रतिभाका एक छोटा दृष्टांत—एक बार किसी दुकान पर रहने वाले पल्लेदारने कहा मालिकसे कि ऐ मालिक! मैं तो रात-दिन कितना बोझा ढोता हूँ, आपका बहुत काम करता हूँ, मुझे आप २० रु० ही देते हैं और यह मुनीम जो कुछ नहीं करता, बैठे-बैठे हुकुम चलाया करता है इसे आप हमसे ५ गुना अधिक देते हैं, यह क्यों अन्तर है? मालिकने कहा बता देंगे १०-५ दिनमें कभी। दूसरे दिन ही सड़क परसे एक बारात गुजर रही थी। तो मालिकने पल्लेदार से कहा, जावो मालूम करो कि यह क्या चीज है? वह पल्लेदार मालूम करने गया। पूछा किसीसे तो बता दिया कि यह बारात है। वह आकर मालिकसे कहता है हजूर यह बारात है। ठीक, थोड़ी देर बाद मुनीमसे कहा सेठने कि देखो यह क्या बात है? तो मुनीम गया और बहुत-सी बातें पूछकर जान लिया कि यह बारात है, किसकी है, कहाँ से आयी है, कहाँ जायेगी, कितने दिनमें लौटेगी? ये सारी बातें जान करके आया और एकदम सबकी सब बातें बता दीं। फलाने गाँवकी बारात है, अमुक आदमी की है, अमुक जगह जा रही है, सब कुछ बताया तो मालिकने नौकर से कहा देखो यह अन्तर इस बातका है। जितना हमने कहा उतना ही तुम समाधान लेकर आये और देखो इस मुनीमने सारी बातें बता दीं। यद्यपि ये सारी बातें बारातके सम्बन्धमें वह पल्लेदार भी जान सकता था, पर उन बातोंकी ओर उसका लक्ष्य ही नहीं दौड़ सका। तो अपना लक्ष्य होना चाहिये कि हम इसे हितपद्धतिसे और अधिक समझें। सज्जनोंकी सूक्ति ऐसे प्रकृष्ट ज्ञानकेलिये होती है।

सत्पुरुषोंकी सूक्तिका द्वितीय प्रयोजन—सज्जनोंकी सूक्तियां विवेकके लिये होती हैं। विवेकका अर्थ यह है कि आत्मा और परका भेद जाननेमें आये। विवेकका अर्थ लोग ज्ञान करते हैं। इसने बड़ा विवेक किया; अर्थात् बहुत ज्ञान किया। पर विवेकका अर्थ ज्ञान नहीं है। विवेकका सीधा अर्थ है टुकड़े कर देना, न्यारा कर देना, पर न्यारा करना ज्ञानपूर्वक ही तो होता है, इसलिये विवेकका अर्थ ज्ञान प्रसिद्ध हो गया। पर जिसमें भेदविज्ञान न हो, हेयको छोड़ने, उपदेयको ग्रहण करने जैसी बात जिस ज्ञानमें न समायी हो उस ज्ञानको विवेक नहीं कहा, और कुछ सुननेमें ऐसा भद्दा भी लगता है जब विवेक शब्दका जहां सही प्रयोग होना है वहाँ ज्ञान का प्रयोग करे तो अटपटासा थोड़ा लगेगा। जैसे किसी चतुर पुरुषने हेय चीजको छोड़कर उपादेयको ग्रहण करनेकी बुद्धिमानी की, उसके सम्बन्ध में लोग यह कहेंगे ना, इसने बड़े विवेकसे काम लिया। इसने बड़ा विवेक किया। उस प्रसंगमें, उस कार्यके प्रतिबोधनके लिये यदि हम ऐसा कहें कि इसने बड़ा ज्ञान किया तो कुछ अटपटासा लगा या नहीं? विवेकका अर्थ भेद कर देना है। सज्जनोंकी सूक्ति हेयको छुटाकर उपादेयको ग्रहण करानेके लिये होती है। जिस ज्ञानके फलमें हेयका त्याग और उपादेयका ग्रहण करनेकी बुद्धि नहीं जगती है वह ज्ञान किस कामका?

अविवेककी स्थितिमें जानकारीकी दशा—एक बहुत प्रसिद्ध दृष्टांत है, सुवाको खूब रटा दिया सुवा पिंजड़ेमें पला हुआ था। उसे रटा दिया गया पाठ कि देख तू इस पिंजड़े से भागना नहीं, भागना तो नलनी पर न बैठ जाना, नलनी पर बैठ जाना तो दाने चुगने की कोशिश न करना, दाने चुगना तो उलट न जाना, उलट भी जाना तो छोड़कर उड़ जाना। पाठ इस तरहका उस तोतेने याद

कर लिया। ज्ञान विवेक तो था नहीं। सो मौका पाकर वह पिंजड़ेसे उड़ गया, नलनी पर बैठ गया, दाने चुगने लगा, उलट गया, मजबूती से पकड़े है नलनीको और पाठ वही पढ़ता जा रहा है। उसे छोड़कर भाग नहीं पाता। ऐसे ही मोही जीवका पाठ तो यह था कि जो मायामय चीजें हैं, विनाशकारी बातें हैं, इनका त्याग कर दो और सुखी करनेकी बातों को ग्रहण कर लो, पर यह न करे तो उस रटनेसे और उस ज्ञानसे लाभ क्या?

विवेकसे ही ज्ञानकी सार्थकता—भैया! हम भी पढ़ते हैं, आप भी पढ़ते हैं ‘आत्म के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।’ और कभी दिलमें ठोकर ही न लगे। मैं कितनी निम्न दशामें हूँ, कैसा विषयकषायोंमें जकड़ा हूँ, यह वास्तवमें अहितकारी है, मेरे लाभके लिये नहीं है। इतना तक भी चित्तमें न आये और रटा हुआ पाठ पढ़ते जायें तो उसे ज्ञान कैसे कहा जाय? ज्ञान तो वही है जो विवेकके लिये बने। सज्जन पुरुषोंकी प्रवृत्ति विवेकके लिये होती है। जैसे किसीको रटा दिया यस और नो, इन दोनों शब्दोंको बहुतसे लोग जानते हैं। कोई लोग ऐसे भी हैं जो यसकी जगह नो कह देते और नोकी जगह यह कह बैठते हैं, क्योंकि उन्हें सही पता तो है नहीं। वह यस और नो रटा लिया है, विवेकपूर्ण नहीं है। तो विवेक बिना तो यह ज्ञान भार है। चूंकि इस चैतन्यमें ज्ञान हो रहा है ऐसा नहीं कह सकते, फिर भी करीब-करीब ऐसा मानों जैसे रिकार्ड बोल जाते हैं, ये विवेकपूर्वक बोलते हैं क्या? ऐसे ही विवेक बिना ज्ञान भार है। सज्जन पुरुषों की सूक्तियां विवेकके लिये हुआ करती हैं।

सत्पुरुषोंकी सूक्तिका तृतीय प्रयोजन—सत्पुरुषोंका उपदेश हितके लिये होता है। हित उसे कहते हैं जिसमें शान्ति मिले। आत्माका हित शान्ति है, और शान्ति वही है वास्तव में जहाँ आकुलता न हो, निराकुलता हो। निराकुलता सर्व प्रकारसे सदाके लिये हो सके। मोक्षमें निराकुलता है। उस मोक्षके लिये यत्न करना बस यही हितका प्रयत्न है। परम हित मुक्तिमें है। मुक्तिका अर्थ है छूटना। शरीर, कर्म, कषाय, विषय इच्छाएँ ये हम आपको जकड़े हुये हैं, और इस जकड़ावसे पदभ्रष्ट भी हम कोई हो जाते हैं। इस अज्ञान अंधकारमें हम यत्न तो करते हैं बहुत-बहुत सुखके लिये, पर जो यन्त होते हैं वे दुःखके लिये होते हैं।

संसरणदशामें हानि पर हानि—जैसे कोई कहते हैं ना जिसका उदय अच्छा नहीं होता कि भाई हमारा तो पापका उदय है, हम जिसमें हाथ डालते हैं उसमें ही नुकसान पड़ता है और यहाँ संसार अवस्थामें देखो तो तीव्र पापका उदय है। ये संसारी जीव जो भी यत्न करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं उसमें ही इन्हें हानि उठानी पड़ती है, लाभ कुछ नहीं मिलता है; जैसे २०, ५० वर्ष हो गये, घर-गृहस्थी, बाल-बच्चोंकी संभालमें कष्ट भी बहुत-बहुत उठाया। सब कुछ करने के बाद आज भी संतोषकी स्थितिमें नहीं हैं, कहो उल्टा और क्लेशकी स्थितिमें आ गये हो। जहाँ बहुत समूह हो जाता है, कोई बात मानता है, कोई नहीं मानता। समझ रहे हैं यह कि ये पुत्रादिक मेरे आधीन हैं, मैं जो कहूँ सो इन्हें शतप्रतिशत वही करना पड़ेगा, किन्तु हैं वे स्वतन्त्र पदार्थ। उनके मनमें आये तो करें न मनमें

आये न करें, अब यहां दुःखी होना पड़ रहा है, क्योंकि चित्तमें यह बसाया है कि मैं इनका अधिकारी हूँ। जो मैं कहूँ सो इन्हें करना पड़ेगा और यह बात वहां होती नहीं तो वहां दुःखी होना पड़ता है।

भावसंसारमें शान्तिका नितान्त अभाव—भैया! १०, २०, ५० वर्ष गृहस्थीमें रहते हुये गृहस्थीके समस्त कार्य करते हुये आज बतावो कितनी शान्ति है, कितना लाभ हासिल किया है? कोई कुछ बता सकता है क्या? बता ही नहीं सकता, क्योंकि लाभ मिलता हो तो बतावें। कुछ हासिल हुआ हो तो बतावें। ऐसे ही इस समग्र संसारमें हर जगह भ्रमण करते हुये यह जीव अब तक इतने समागमोंमें गुजर कर भी आज वैसाका ही वैसा दीन, कायर, आशावान्, जन्म-मरणके चक्रमें रहने वाला बना हुआ है। कितनी कठिन स्थितिमें फंसा है और फिर भी कोई मोही अपनेको सुखी माने तो वह वास्तवमें सुखी नहीं है। घर, दुकानके कार्योंमें और उस सुखकी मान्यताके विकल्पोंमें भी निरन्तर क्षोभ बसा हुआ है, और वह शान्त विश्रान्त नहीं हो पा रहा है। इसकी उसे सुध नहीं है। इन सब बन्धनोंसे मुक्ति मिले तो वहाँ निराकुलता समझिये।

मुक्तिके उद्यममें यथार्थ ज्ञानकी कर्तव्यता—मोक्ष पानेके लिये हमें यहीं अभीसे क्या कार प्रारम्भ करना चाहिये? काम यही करना चाहिये कि जिनसे हम छूटना चाहते हैं, उनसे हम इस समय भी अपने स्वरूप सत्वकी दृष्टिसे न्यारे हैं, इतनी बात ज्ञानमें आ जानी चाहिये, छूटना जब होगा तब होगा, पर शरीरका स्वरूप यह है; मेरा स्वरूप यह है अमूर्त ज्ञानानन्दस्वभाव है, ऐसा भेद जानने लगे, यदि यह भी नहीं किया तो अभी मुक्तिका मार्ग मिला न समझिये। बल्कि यह संसारभ्रमण और लम्बा होता चला जायेगा। भेदविज्ञानकी बहुत बड़ी महिमा है। भेदविज्ञानका हम अब बहुत-बहुत उपयोग करें, इसका आश्रय लिये बिना, इसकी कृपा पाये बिना हम दुःखोंसे छूट नहीं सकते। सज्जन पुरुषोंकी वाणी ऐसे ही हितके लिये हुआ करती है।

भेदविज्ञान व अभेदविज्ञानका कदम—हितपूर्ण ज्ञानमें प्रथम तो भेदविज्ञान है और फिर भेदविज्ञानका फल तो यह था कि हेयसे हटें और उपादेयमें लगे तो हेयसे हटकर हम अपने विषयभूत निज ज्ञानस्वरूपमें लग गये। अब परतत्त्वोंकी सुध नहीं रही तो इसे कहते हैं अभेदज्ञान। तीन चीजें हुआ करती हैं, एक भेदविज्ञानका अभाव, दूसरी बात भेद विज्ञान और तीसरी बात अभेदज्ञान। भेदविज्ञान अभाव तो दुःखमय ही है। वह तो अज्ञान अवस्था है। भेदविज्ञानके कालमें उत्कृष्ट शान्ति नहीं होती, पर हाँ शान्तिकी शुरुवात होने लगती है। उत्कृष्ट शान्तिका साधक तो निर्विकल्प अभेदज्ञान है, जिसमें सुख न मिले, शान्ति न मिले वह ज्ञान क्या?

सत्पुरुषोंकी सूक्तिका चतुर्थ प्रयोजन—सज्जन पुरुषोंकी सूक्तियां शान्तिके लिये होती हैं, न तो चन्द्रमाकी किरणें इतनी शीतल हैं, न शीतल रत्नोंके हार, न हिमगृह इतनी शीतल है जितने शीतल सज्जन पुरुषोंके वचन हुआ करते हैं। क्या मानसिक क्लेश वाले को बर्फघरमें धर दें तो आपात शान्त हो जायेगा? सज्जन पुरुषोंके वचनोंमें ही ऐसी क्षमता है कि मानसिक चिन्तावोंके आशयसे जले हुये व्यक्तिको शीतल कर सके। सज्जन पुरुषोंके वचन भेदविज्ञान उत्पन्न कराकर समस्त क्लेशोंको शान्त

करा देते हैं। सज्जन पुरुषोंके वचन शान्तिके लिये ही हुआ करते हैं। शान्ति का अर्थ है विषाद, कषायें, आकुलताएँ मंद होना। सज्जन पुरुषोंकी सूक्तियाँ तो सभी जीवोंमें शान्ति उत्पन्न करनेके लिए हुआ करती हैं।

सत्पुरुषोंकी सूक्तिका पञ्चम प्रयोजन—सत्पुरुषोंके उपदेश सम्यक्यथार्थतत्त्वके उपदेश के लिए ही हुआ करते हैं जिन वचनोंमें विपरीत तत्त्वोंका उपदेश भरा हो वे वचन सत्पुरुषोंके नहीं हैं। जिनका अभिप्राय दूषित है वे जो बोलेंगे वह बिगाड़के लिए बोलेंगे, और जिनका अभिप्राय विशुद्ध है वे जो भी वाणी बोलेंगे वह वाणी और परके उपकारके लिए होगी। सज्जन पुरुष कहते ही उसे हैं जो संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हो। जो न इस संसार में लिपटना चाहता हो, न इस शरीर में झुका रहता हो और भोगोंसे अत्यन्त दूर रहता हो वह सज्जन पुरुष है। सज्जन पुरुषोंकी वाणीका आश्रय लेकर भव्य जीव संसारके संकटोंसे सदाकेलिये मुक्त हो जाते हैं।

ग्रन्थकी भूमिकामें विविध ज्ञानका प्रकाश—यह ग्रन्थ ज्ञानार्णव रचा जा रहा है। क्यों रचा जा रहा है, क्या प्रयोजन पड़ा है? इन बातोंका समाधान देनेकेलिए ये ५ प्रयोजन दिखाये हैं। इन ५ प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए सज्जन पुरुषोंकी वाणी होती है। इस श्लोकमें यह भी मर्म बताया गया है, रचयिताकी ओरसे मानो यहाँ कहा जा रहा है कि हम जो यह शास्त्र बना रहे हैं यह सर्वज्ञकी परम्परा से जो बात चली आयी है, जो उपदेश आया है उसीके अनुसार हम इसमें तत्त्वका उपदेश कहेंगे। सर्वज्ञ देवकी परम्परासे चले आये हुए उपदेश इन जीवोंको हितकारी हैं क्योंकि यहां यथार्थ परम्परागत उपदेश प्रबोध करा सकता है, विवेक करा सकता है, हित करा सकता है, शान्ति करा सकता है, उन्हीं प्रयोजनोंकी सिद्धिकेलिये हम इस ग्रन्थको बतायेंगे। इस भूमिकामें क्या-क्या कहा जा रहा है? यह सब वर्णन चल रहा है, इससे भी हम आप सब बहुत-बहुत परिज्ञान करेंगे। आचार्यदेवकी भूमिका कितनी महान् आशय रखती है? इस भूमिकामें आजके श्लोकोंमें यह बात कही गई है कि इसमें जो भी उपदेश होगा वह हितके लिये और शान्तिकेलिये ही होगा।

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तपरं तपः।

अयमात्मा यदासाद्य स्वरूपरूपे लयं ब्रजेत् ॥१॥

यह आत्मा जिसको पाकर अपने स्वरूपमें लयको प्राप्त हो जाय बस वही वास्तवमें श्रुत है अर्थात् शास्त्र श्रवण है, वही विज्ञान है, वही ध्यान है और वही उत्कृष्ट तप है।

शास्त्र श्रवणका प्रयोजन—जैसे कोई पुरुष बड़े चावसे, बड़े श्रमसे तो रसोई बनाये, भोजन व्यवस्था करे और सब कुछ कर चुकनेपर भी खिलाने या खानेकी मनमें बात ही न सोचे, विचार ही न करे यों ही छोड़ दे, फैंक दे तो उसे लोग पागल जैसा कहेंगे। काहेकेलिये यह श्रम कर रहा है? जैसे कोई नदीमें नावमें बैठकर नावको खेवे और कभी पूरब, कभी पश्चिम, कभी उत्तर और कभी दक्षिण दिशाको वह नाव खेता रहे, किसी किनारे पर लगनेका लक्ष्य ही न बनाये तो ऐसे नाव खेने वालेको तो कोई विवेकी न कहेगा; जैसे कोई लेखक भी ऐसे हो सकते हैं कि लिख डालें ५-७ सफे

और उसमें क्या कहा गया है, कुछ न भरा हो तो ऐसा लेख लिखने वाला विवेकियोंके आदर योग्य नहीं है, कोई पुरुष १०-१५-२० मिनट तक बोले कहींका छोर कहींका ओर ऐसा बोलने वालेको कोई विवेकी आदर तो न देगा। ऐसे ही धर्मके नाम पर कितना ही कुछ कष्ट कर लिया जाय; भक्ति, पूजा, ध्यान, उपवास गानतान, संगीत समारोह अथवा शास्त्रका प्रतिदिन सुनना, बड़ी ज्ञानकी बातें कहना सब कुछ कर लिया जाय, लेकिन किसी भी क्षण यह आत्मा पर पदार्थोंके विकल्पसे हट कर अपने स्वरूपमें प्रकाश न करे, अपने स्वरूपकी सुध भी न ले तो ऐसे बड़े श्रमोंको भी ज्ञानीसंत आदर न देगा। शास्त्रश्रवण वही है जिसका आश्रय करके जिस बीच ऐसा ध्यान लगाये, चित्त बनाये कि अपने स्वरूपमें लीनताको प्राप्त हो सकता है।

श्रोतावोंको धर्मानुभवका विशेष अवसर—देखो इस प्रसंगमें वक्तासे भी अधिक आत्मीय आनन्द लेनेका अवसर श्रोताको है। सभामें बोलने वाला व्यक्ति किसी क्रमसे बोले, कुछ कहना चाहे तो वह स्वरूपमें लीन होकर तो नहीं बोल सकता, भले ही उसके निकट फिरता हुआ बोले। वक्ताको यह अवसर कहाँ है कि यह बोलते हुए अपने स्वरूपमें लीन भी हो जाय और एक सहज आनन्दका अनुभव भी कर ले, क्योंकि उसे श्रम करना है, बोलना है, लेकिन श्रोतावोंको क्या है, बैठे हैं, बड़े ध्यानसे सुन रहे हैं, वहीं किसी समय सर्वविकल्प तोड़कर अपने आपके स्वरूपमें लीन होना चाहे तो उसे अवसर है। शास्त्र श्रवण तो वास्तवमें वही है कि जिसको पाकर यह अपने स्वरूपमें लीनताको प्राप्त हो जाय। सुनते हुएमें यह ध्यान रहना चाहिये कि मेरा हित क्या है? मुझे हित चाहिये, शान्ति चाहिये, सत्यमार्ग चाहिये, मुझे कल्याणकी वाञ्छा है ऐसे भावपूर्वक शास्त्र श्रवण हो तो उससे इस प्रयोजनकी सिद्धि सम्भव है। कोई पुरुष पहिले घरसे ही चलते हुए यह सोचकर आये कि आजमें जाऊँगा शास्त्रमें और देखूँगा कि किस तरहसे वक्ता बोलता है, क्या ढंग बनाता है और जो प्रभाविक कला होगी उसे भी हम सीखेंगे, हम भी वैसा बोलेंगे अथवा कोई बात अनुचित दीखे विरुद्ध निकले तो मैं दुनियाको बताऊँगा कि इन में यह दोष है। तो कुछ भी बात हो, अथवा आज मैं ऐसा पूछूँगा और देखूँगा कि क्या उत्तर देते हैं? कुछ भी विकल्प करके यह विकल्पक शास्त्र श्रवणका आनन्द नहीं ले सकता है। जो अपनेको न कुछसा समझकर आये, मुझे तो संसारके बड़े संकट लगे हैं, क्लेश जालमें पड़े हुए हैं, ये मेरे क्लेशजाल कैसे छूटें, शान्तिका मार्ग कैसे मिले, ऐसा विशुद्ध आशय हो तो शास्त्रश्रवणका आनन्द उसके हाथ लग सकता है, और इस प्रकारका शास्त्रश्रवण वास्तवमें श्रवण है।

श्रोताका एक दृष्टान्त—एक कथानक है कि एक घुड़सवार जा रहा था। उसे एक भवनमें बड़ी जगहमें बहुतसे आदमियोंकी भीड़ जाती हुई दीखी। लोगों से पूछा कि यहाँ बहुतसे लोग क्यों जा रहे हैं? लोगोंने बताया कि हम सभी कथा सुनने जा रहे हैं, यहाँ पंडितजी रोज-रोज कथा पढ़ते हैं। उसने कहा अच्छा मैं कथा सुनने चलूँगा। घोड़े को बाहर छोड़ दिया वह भी उसी हालमें पहुँचा। सुयोगकी बात कि उस दिन कुछ वैराग्य का प्रकरण चला। उस प्रकरणको सुनकर इसको तो वैराग्य जग गया। घोड़ा तो कहीं चला गया और वह जंगलमें जाकर किसी योगीसे सन्यास लेकर उसका पालन करने

लगा है। अब एक दो वर्ष बाद वही फिर उसी शहरसे निकला तो उसी जगह बहुतसे आदमी जा रहे थे। लोगोंसे पूछा, कि भाई ये लोग कहाँ जा रहे हैं? बताया कि ये सभी लोग कथा सुनने जा रहे हैं। ये कथा सुनने कबसे जा रहे हैं? बताया कि इसकी परम्परा १०-१२ वर्षसे चली आ रही है। तभीसे ये लोग जा रहे हैं। तब सन्यासी बोला कि अहो धन्य हैं ये भाई, हम तो एक दिन कथा सुनने पहुँचे तो हमारे ऐसे चोट लगी कि फिर मैं घरमें नहीं रह सका और इनको धन्य है जो इतने दिनोंसे कथा भी सुन रहे हैं व रोज-रोज उपदेशकी चोट भी सहते जाते हैं।

भैया! भीतरसे यदि हितकी आकांक्षा जगी है तब तो शास्त्रश्रवणसे लाभ है और यदि परम्परा चलानेकी गरजसे हम इस कुलके हैं, हमारा यह काम है, हम ही न आर्येंगे तो समाजके लोग और कैसे आर्येंगे या किन्हीं भी बातोंसे शास्त्रका सुनना ही तो वह किसीको लाभ न देगा। इस कारण सुननेमें एक यह भावना हो कि मैं कर्मोंसे घिरा, शरीरसे बँधा, नाना संकटोंमें पड़ा, कैसे इन संकटोंसे मुक्त हो सकूँ। अब मेरा हित कैसे हो, शान्ति कैसे मिले, इस भावनाके साथ शास्त्रका श्रवण होना चाहिये। देखिये अपनी भलाईकी जो बात है वह सब अपने हाथ है। जिन विचारोंमें कल्याण भरा है उन विचारोंका करना तो मुझे ही है, मैं ही अपनी भलाईके लिए सब कुछ कार्य कर सकता हूँ। शास्त्रश्रवण वही है जिसको पाकर यह आत्मा अपने स्वरूपमें लीन होने का प्रयत्न करे।

सफल विज्ञान—विज्ञान भी वही है, विविध-ज्ञान, भेद-विज्ञान भी वही है जिसको पाकर यह जीव अपने स्वरूपमें लीन हो जाय। भेद-विज्ञान तब तक भेद-विज्ञान न कहलायेगा जब तक हेयसे हटने और उपादेयमें लगनेका परिणाम उत्पन्न न हो। जैसे चावल शोधे जाते हैं तो उसमें यह भेदविज्ञान रहता है कि चावल तो यह है और बाकी कूड़ा यह है, मुझे चावल अपने पास रखना है और कूड़ा फेंकना है। ऐसा चावल शोधनेमें चित्त रहता है कि नहीं? न रहे तो वहाँ जाना ही क्या? ये क्रोधाधिक भाव मेरे भाव नहीं हैं, परभाव हैं। मेरा भाव तो एक चैतन्य प्रतिभास है, प्रकाश है। ऐसा किसीको भेद-विज्ञान जगे और क्रोधादिकसे हटनेका यत्न न हो तो इसे कौन मान लेगा कि यह भेद-विज्ञान है? आश्रव आदिक परभावोंमें और आत्माके सहज स्वभावमें भेद-विज्ञान है तो कषायोंसे इसको हटाता हुआ ही उत्पन्न होता है। यह नहीं हो सकता कि भेदविज्ञान भी जग जाय और आश्रवमें कषायोंमें आसक्ति बनी रहे। यदि आसक्ति है तो वहाँ ज्ञान नहीं है।

आत्मपरिच्छेदन बिना विज्ञानकी निष्फलता—विज्ञान वही है जिसकी प्राप्ति करके यह आत्मा अपने स्वरूपमें लीन हो जाय। ज्ञानकी बात जो बोले अर्थ तो उससे निकलेगा ही, पर उसका अर्थ हृदयमें घटित न हो तो इसके लिये वह ज्ञान, ज्ञान नहीं रहा, वह तो एक बोलचाल रहा, श्रम रहा, सीखना रहा। जैसे किसी छोटे बच्चेको व्याख्यान रटा दिया। कलापूर्ण ढंगसे वह व्याख्यानको बोल देता है, लेकिन उसका मर्म उसे विदित नहीं हो पाता है। कितने ही लोग संस्कृतके स्तवन बड़े राग से पढ़ते हैं परन्तु उनका अर्थ विदित नहीं है तो मर्म नहीं उतर सकता।

ऊपरी ज्ञान वचनका एक दृष्टान्त—एक किसी भाईने तोता पाल रक्खा था और उसे यह सिखा दिया था इसमें क्या शक? एक कोई ब्राह्मण भाई आया, उसे वह तोता बड़ा सुन्दर लगा, पूछा क्यों भाई! तोता बेचोगे? वह बोला हाँ-हाँ बेचेंगे।...कितने रुपये लोगे?...१०० रुपये लेंगे। अरे! तोते तो ८-८ आनेके आते हैं, इसमें १०० रु० के योग्य कौनसी खास बात है? उसने बताया कि इस तोतेसे ही पूछ लो कि तुम्हारी १०० रु० कीमत है या नहीं। उस ब्राह्मणने तोतेसे पूछा कहो तोते, तुम्हारी कीमत १०० रु० है क्या? तो तोतेने क्या कहा इसमें क्या शक? ब्राह्मणने सोचा कि तोता योग्य है, सो उसे १०० रु० में खरीद लिया। ब्राह्मणने अपने घर ले जाकर उसे खूब अच्छी-अच्छी चीजें खिलाई। शामको ब्राह्मण रामचरित्र लेकर बैठ गया, रामकी कहानी सुनाने लगा तो तोता बोला इसमें क्या शक? अब वह रामचन्द्रके गुण गाने लगा। तोतेसे पूछा कहो तोते ठीक है ना? तो उसने क्या कहा? इसमें क्या शक? सोचा कि यह तो बहुत विद्वान् मालूम होता है। कुछ आत्मवरूपकी चर्चा करने लगा, फिर पूछा कहो ठीक है ना? तो तोता क्या कहता इसमें क्या शक? अब तो ब्राह्मणको भी शक हुआ कि यह यही बात बार-बार बोलता है। ब्राह्मणने पूछा कहो तोते क्या मेरे १०० रु० पानीमें चले गए? तोता क्या बोला? इसमें क्या शक? तो मात्र ऊपरी ज्ञानकी बात, बोलने की बात और है, और घटमें उतरनेकी बात और है।

वास्तविक विज्ञान—विज्ञान वही है जिसको पाकर यह आत्मा अपने स्वरूपमें लीन हो जाय, स्वरूपमें लीन होनेका अर्थ क्या है? यह आत्मा जो परपदार्थोंके सम्बन्धमें नाना विकल्प मचा रहा हे, इष्ट अनिष्ट, झगड़ा विवाद, पक्ष नाना तरंगें उठ रही हैं ये सब तरंगें समाप्त हों और केवल एक जाननमात्रका अनुभवन रहे, कोई विकल्प न उठे, केवल एक प्रतिभास ही चारों ओर सम्यग्ज्ञानका रहे ऐसी स्थिति बने उसे कहते हैं स्वरूपमें लीन होना। ऐसी स्थिति जिस विज्ञानको पाकर हो, विज्ञान तो वही है।

अनुभूतिकी प्रयोग साध्यतापर एक लौकिक दृष्टान्त—यह ज्ञान प्रयोग और अनुभवसे सम्बन्ध रखता है। केवल एक शाब्दिक जालसे ज्ञान नहीं बनता। किसीको रोटी बनाने की विधि वचनोंसे खूब सिखा दो, देखो आध घंटा पहिले आटा सान लो, फिर उसे गूँदो, फिर उसकी लोई बना लो, लोई छोटी होनी चाहिये। परथन लगाकर उसे बेलो, फिर रोटी तवे पर डाल दो, उसे जल्दी ही पलट दो, दूसरे पतको कुछ देरमें पलटो फिर धधकते हुए कोयलेकी आंचमें रखकर उसे जल्दी-जल्दी उलटते जावो। किसी तरह उसमें छेद हो जाय तो चिमटेसे बंद कर दो। यों रोटी बन जायेगी। इस प्रकार वचनोंसे किसी को रोटी बनाना खूब सिखा दो और दूसरे दिन धर दो आटा व कहो बनावो। साहब रोटी, तो क्या वह रोटी बना पायेगा? नहीं बना सकता। यों ही वचनोंसे चाहे चार महीने तक सिखा दो आत्मानुभवका स्वरूप, पर वह अनुभव नहीं बना सकता। जब तक कि खुद विकल्प तोड़कर अन्तस्तत्त्वका प्रकाश न पाये। अरे वह तो प्रयोग साध्य चीज है। जैसे आपने वचनोंसे रोटी बनाना सिखा दिया, प्रयोग करके नहीं सिखाया तो वह रोटी कैसे बना पायेगा? ऐसे ही इन ग्रन्थोंके पढ़

लेनेसे, बांच लेनेसे अपने आपको कुछ लाभ नहीं मिल पाता। जो भी शास्त्रमें पढ़े अथवा सुने उसे अपने आपमें घटित करे, अपने आपमें अपना कार्यक्रम बनावे, यह विधि होगी शास्त्रविज्ञानकी।

हितकारी ध्यान ध्यान भी वही है जिस ध्यानको पाकर आत्मा अपने स्वरूपमें लीन हो जाय। देखिये मनुष्य काम अनेक करता है, धन कमाना, मकान बनाना, बड़ी व्यवस्थाएँ करना, लोकमें, गाँवमें, देशमें अपना रुतबा रखना, नाम रखना ये कितने प्रकारके काम मनुष्य कर रहे हैं, पर वे सब काम इस मनुष्यको शान्त नहीं कर सकते। बहुत-बहुत काम करनेके बाद रोताका ही रोता अपनेको पाता है यह। बल्कि कभी-कभी तो अपनेको लुटासा अनुभव करता है। इससे तो अच्छी मेरी २० साल पहिलेकी स्थिति थी, आज अपनेको लुटा हुआ अनुभव कर रहे हैं। बात यह है कि जो कुछ किया पर का विषय बनाकर, परके सम्बन्धमें जो भी भावात्मक यत्न किया वह सब अपने घातके लिये किया गया है, अपने विकासके लिये नहीं किया गया।

संसारी जीवमें ध्यानकी वृत्तियाँ ध्यान बिना कोई रहता है क्या? प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी ध्यानमें रहता है, जिसको जो बात प्रिय है, जो बात इष्ट है वह उसके ध्यानमें बना रहता है। किसीका धनमें, किसीका पुत्रमें, किसीका स्त्रीमें, किसीका भगवानके भजनमें, किसीका आत्मस्वरूपमें ध्यान बना रहता है। ध्यान बिना कोई मनुष्य रह नहीं सकता। इन बातोंको अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है। सभीको मालूम है, सभीको अपने-अपने जीवनका अनुभव है। सब पर घटनाएँ गुजरती हैं। सबके बुद्धि और प्रतिभा है। थोड़ा हितकी आकांक्षाके भावसे निर्णय करें तो सब कुछ ठीक निर्णयमें आ जाता है। ध्यान तो वास्तवमें वही है जिसको पाकर अपने आत्मस्वरूपमें लीन हो जाय। सम्यग्ज्ञानके प्रकाश बिना ये सब बातें उत्पन्न नहीं हो सकतीं।

नीरंग और निस्तरङ्ग उपयोग भैया! सम्यग्ज्ञान वही है जिस प्रकाशमें प्रत्येक पदार्थ खुदका अपना-अपना स्वरूप लिये हुए स्वतंत्र स्वयंमें प्रभु हैं। इस प्रकारकी दृष्टि न बने, ऐसा ज्ञान न जगे तब तक वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहला सकता। अहितसे हटाये, हितमें लगाये, ऐसा ज्ञान जब तक नहीं बन सकता तब तक सम्यग्ज्ञान कहला नहीं सकता। ध्यान वही श्रेष्ठ है जो इस आत्माको अपने आपमें लीन कर दे, नीरंग, निस्तरंग बना दे। समुद्रके या नदीके किनारे आप बैठें तो उसमें आपका प्रतिबिम्ब पड़ता है, आप अपना मुख उसमें देख सकते हैं। यदि वह जल नीरंग और निस्तरंग है तो आप उसमें अपना फोटो साफ निरख सकते हैं और यदि सरंग, सतरंग है तो उसमें अपना फोटो नहीं देख सकते। वह पानी गंदा हो, कीचड़युक्त हो तो उसमें आपको फोटो नहीं दीख सकती और जलमें यदि चारों ओरसे तेज लहरें चल रही हों तो भी उसमें आपको अपना फोटो नजर नहीं आ सकता। ऐसे ही इस आत्मामें रागद्वेषोंका रंग चढ़ा हुआ हो तब भी अपने स्वरूपके दर्शन नहीं हो सकते और वे रागद्वेष रंग भी कम हों, मंद हों लेकिन चंचलता अधिक हो, ज्ञानकी स्थिरता न बन सकती हो वहाँ भी आपको अपना दर्शन नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञानके बलसे जब एक सहजस्वरूपका ध्यान बनता है तो वहाँ रंग और तरंग दोनों हट जाते हैं और वहाँ स्वरूप दर्शन होता है। ज्ञानकी स्थिरताको ध्यान

कहते हैं। ध्यान हितकर वही है जिसे पाकर यह जीव अपने स्वरूपमें लीन हो।

वास्तविक तपश्चरण—तपस्या भी परम वही है जिसमें स्वरूपदर्शन हो। अनशन कर लिया तो क्रोध बढ़ गया, क्योंकि जब भूख रहती है तो क्रोध बढ़नेका अवसर प्रायः जल्दी आता है। कोई प्रतिकूल बात करे तो क्रोध बढ़ जाता है, यह सबकी बातें नहीं कही जा रही हैं, किन्तु प्रायः जैसा साधारणजनोंमें होता है, वैसा बताया जा रहा है। तो वह तपस्या क्या रही जिसमें कषाय और बढ़ जाय, अथवा मान बढ़ जाय, लोग समझें कि ये ब्रती हैं, ये ऐसा उपवास रखते हैं। तो वह तपस्या क्या रही? अथवा माया-लोभ बढ़ जाय। देखो धर्म करनेसे पुण्यबंध होता है, फिर उसे स्वर्गके सुख मिलते हैं। कर रहा है, लग रहा है तपस्यामें। अरे भैया! यहाँ शान्ति तो हुई ही नहीं अभी क्योंकि उद्देश्य भी सांसारिक रख लिया। तपस्या भी वही है जिसमें रहकर यह जीव अपने स्वरूपमें लीन हो सके।

तपश्चरणकी लाभप्रद पद्धति—देखो अनशन हो, कायक्लेश हो, गर्मीका सहन हो, किसी प्रकारका भी तपश्चरण हो उस तपश्चरणमें सीधा लाभ तो यह होता है कि विषय कषायोंमें चित्त नहीं बसता और ऐसी स्थितिमें जबकि विषयकषायोंका विकल्प नहीं रहा तो इस तपस्वीको आत्माके स्वरूपके स्वरूपमें लीन होनेका मौका मिलता है। पर यह लीनता एक ज्ञानानुभाव द्वारा ही होती है। इसमें यह शिक्षा दी है कि सुनो तो इस तरह कि अपने आपको छूते रहो, ज्ञान करो तो ऐसा कि अपने आपको सुध रहे, ध्यान करो तो ऐसा कि अपने आपमें लीनता हो जाय, तपस्या करो तो ऐसी कि अपने आपके निकट रहा करें, यही एक अपने कल्याणकी विधि है।

दुरन्तदुरिताक्रान्तनिः सारमतिवञ्चकम् ।

जन्म विज्ञाय कः स्वार्थे मुह्यत्यङ्गी सचेतनः ॥१०॥

जन्मकी अनाद्यन्ता—यह जन्म अर्थात् संसारके इन भवोंमें उत्पन्न होना बहुत पापों का आक्रान्तक है, जिसका परिणाम खोटा है। लोग जन्मको निरखकर सोचकर हर्ष मनाया करते हैं, किन्तु जन्म अच्छी चीज नहीं है, उसमें हर्षकी क्या बात आ गई? खुद के जन्ममें तो हर्ष मानने लायक बुद्धि भी नहीं चलती। किसने अपने जन्म पर खुशी मानी? अरे उसे तो कुछ होशहवास ही नहीं, जन्म लेने वाला खुशी क्या मनाये। जन्म लेने वाला व्यक्ति तो खुद बड़ा क्लेश भोग रहा है। जन्ममें एक तो निकलनेका दुःख, दूसरे अत्यन्त कोमल शरीर, जगह-जगह चोट लगनेकी वेदना भोगता है, जन्म लेने वाले को कहाँ होश है कि इस बातकी खुशी मनाये कि लो मेरा जन्म हुआ है। हां, ये बड़े लोग बच्चेके जन्मपर खुशी मनाया करते हैं। उनका वह खुशी मनाना एक मोहसे भरी हुई बात है। काहेकी खुशी?

जन्मसे अलाभ—कदाचित् कोई यह खुशीको सिद्ध करनेकी बात कहे कि मेरे घर एक जीव उत्पन्न हुआ है, वह श्रावक बनेगा, धर्मपालन करेगा, मोक्षका मार्ग निभायेगा उसकी खुश है। यदि इस बच्चेके पैदा होने की खुशी है तो अन्य बहुतसे बच्चे पैदा होते हैं, उनके भी पैदा होनेकी खुशी मनाना चाहिये, पर कौन मनाता है? ग्रन्थोंमें तो यह जरूर लिखा है कि गृहस्थको गृहस्थीका धर्म चलानेके

लिये संतान उत्पन्न करना चाहिये, पर किसकी यह दृष्टि है? केवल मोहसे आक्रान्त होकर ही व्यवहार चलता है। खुदके जन्म पर दृष्टि दो। जन्म हुआ तो क्या हो गया है, कौनसी खास बात हुई? संसारमें परिभ्रमण कर रहे थे, किसी जगहसे मरकर आये, यहाँ एक नया शरीर पा लिया। ऐसा तो करते आये अनन्तकालसे। कौनसी बड़ी विशेषताकी बात हुई?

हर्ष और विषादका वास्तविक आधार—भैया! जन्म कोई विशेषताकी बात नहीं है, और मरनेमें कुछ खो जानेकी भी बात नहीं मरण हो रहा है तो ठीक है, उस आत्माका क्या बिगाड़ है, जिसे कल्याणकी वाञ्छा है, आत्मतत्त्वकी सुध है उसे मरण समयमें कुछ विषाद नहीं होता, और जिसके मोह है, पर्यायबुद्धि है, कुछ जीवोंको अपना मान लिया है ऐसे पुरुष ही मरणके समयमें विषाद किया करते हैं। हाय! ये मेरे बच्चे नाती पोते अब बड़े हो गये थे, सुख लूटनेके अब दिन थे। पर इन्हें छोड़कर मरण करके जा रहे हैं, यों सोचकर दुःखी तो मोही पुरुष होते हैं। दुःख काहेका? अपनी खुशी आये थे अपनी खुशी जा रहे हैं, इसमें हर्ष विषाद क्या? हर्ष विषाद तो उसका करें कि मेरा परिणाम निर्मल बने उसकी खुशी मनावें, उससे बढ़कर वैभव कुछ नहीं है। परिणामोंमें मलिनता आये, विषयकषायोंकी बात आये, दूसरेको धोखा देनेकी बात आये, और और भी गंदगियां आयें उसका रंज करें। हाय! मेरे कैसा पापका उदय है। यह कैसा अशुभ भाव बन रहा है?

निर्वाणसे प्रथम स्थिति—यह जन्म पापोंसे आक्रान्त है। जिसका बड़ा खोटा परिणाम है ऐसे पापोंसे भरा हुआ यह जन्म है जन्मसे किसीकी सिद्धि नहीं होती है। मरणसे तो सिद्धि हुई है। भगवान मोक्ष गये तो मरणके बाद गए कि जन्मके बाद? निर्वाण जन्मके बाद होता है कि मरणके बाद होता है? मरणके बाद। आयुके क्षयका ही तो नाम मरण है। जब आयोगकेवली गुणस्थानमें अन्तमें आयुका भी क्षय हो जाता है तब ही तो वे निर्वाण पाते हैं, सिद्ध होते हैं। सदाके लिये शुद्धि और आनन्द मिल जाना यह मरणपूर्वक होता है, जन्मपूर्वक नहीं होता। ज्ञानियोंकी दुनियामें मरणका तो समारोह मनाया जाता है जन्मका समारोह नहीं मनाया जाता। मोहियोंकी दुनियामें जन्म समारोह मनाया जाता है मरण पर नहीं मनाया जाता। मरणके समय समारोह मनानेकी बात वहाँ सोचियेगा जहाँ अनेक साधु संत हैं संगमें और कोई साधु समाधिमरणमें आया है, समाधि धारणकी है उसकी आत्माकी रक्षाके लिये ४८ मुनि उसकी सेवा करते हैं, और किस प्रकारकी सेवा कोई चार फर्लाङ्ग दूर बैठे हैं, कोई निकट सीमाके बाहर बैठे हैं ताकि कोई मोही आक्रान्ता वहाँसे न गुजरे और उस समाधिमरण वाले साधुको विघ्न न करे, अथवा कोई उससे विवाद करने आया है तो उसे वे मुनि दूर हटा देते हैं, कितने ही मुनि उसकी सेवा करने वाले होते हैं। यह है उनका समारोह। तो ज्ञानी पुरुष मरणमें जलसा समारोह करते हैं।

मुट्ठी बांधे आना व हाथ पसारे जाना—लोग कहते हैं कि यह जीव मुट्ठी बांधे आता है और हाथ पसारे जाता है। इसका और क्या अर्थ है? पूर्व भवकी कमाई साथमें लेकर आता है, और ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, विषयकषायमें पड़कर अपने पुण्यको खत्म करता जाता है, यों सारा पुण्य

खत्म करके अन्तमें सब कुछ खोकर हाथ पसारे जा रहा है। यह जन्म निःसार है। जैसे कहीं कोई गुंडोंके बीच फंस जाये तो किसी भी प्रकार उनसे छूटनेके लिये रागका व्यवहार करना पड़ता है, ऐसे ही जानों कि हम अनन्त विषय वासनावोंसे रंगे हैं तो ऐसी स्थितिमें एक नरभवका जन्म ऐसा उत्तम सहारा है कि यहाँ किसी तरह अपने बचावकी बात बनाकर इसके माध्यमसे हम सदाके लिये जन्मके पञ्चेसे छूट जायें, इस करण इसे सारभूत कहा है, पर वस्तुतः जन्म तो जन्म ही है।

जन्मकी वञ्चकता—यह जन्म, यह संसार अत्यन्त ठगिया है। जैसे कोई पुरुष थोड़े से सुखका लोभ देकर उसका सर्वस्व हर लेता है इसी प्रकार यह जन्म थोड़ेसे विषयोंका लोभ देकर इसका सर्वस्व हर लेता है और नरक निगोदका निवास दिया करता है। ऐसा यह निःसार जन्म है। इसकी असारता जानकर कौन बुद्धिमान् पुरुष अपने स्वार्थमें मोहको प्राप्त होता है, अर्थात् आत्मकल्याणमें प्रमादी होता है। इन सर्वसमागमोंको असार जान कर आत्मकल्याणमें लग जावो, आत्मकल्याणमें प्रमादी मत बनो। तुम तुम्हारे साथ रहोगे, ये सारे समागम न रहेंगे। जब हम ही हमारे साथ रहेंगे तो अपनेको ऐसा योग्य बनायें कि भविष्यमें हम संकट न पायें। यहाँकी सारी व्यवस्थाएँ बनाते रहनेमें तो अपनी भूल ही है, और इस भूलके कारण कुछ सिद्धि नहीं होनेकी है।

निजसे सुथकी भूलमें विडम्बना—एक बाबू जी अपने घरकी व्यवस्था बना रहे थे तो उस व्यवस्थामें जो चीज जहाँ रखनी है रख दिया और उस जगह उस चीजका नाम डाल दिया। जूतोंकी जगह जूता लिख दिया, छातेकी जगह छाता, कुर्तेकी जगह कुर्ता, छड़ीकी जगह छड़ी यों सभी चीजें रख दिया और उसी जगह उसका नाम लिख दिया। यही तो व्यवस्था कहलाती है। इसी धुनमें व्यवस्था में लगे हुए बाबूजी को नींद आ गयी। बाबू जी पलंग पर लेट गये। जहाँ लेटे उस जगह लिख दिया मैं, याने यहाँ मैं धरा हूँ। सो गए। जब सुबह सोकर जगे, उठे तो देखा कि हमने जो व्यवस्थाकी थी वह ठीक है ही नहीं। जो चीज जहाँ धरी थी वह चीज वहीं पर ठीक-ठाक रखी है या नहीं? सब कुछ देखा तो ठीक दीखा। जब पलंग पर दृष्टि गई जहाँ पर मैं लिखा हुआ था, वहाँ देखा तो मैं न था। सोचा कि मैं कहीं खो गया। खाटके छेतोंमें देखा कहीं मैं घुसा तो नहीं है, नीचे देखा कहीं टपक तो नहीं गया। जब कहीं न दीखा तो अपने नौकरको पुकारा। अरे मनुवा दौड़, देख मेरा मैं गुम गया। नौकरने सोचा कि आज क्या हो बाबू जी को इस तरहकी बात कह रहे हैं। वह बात समझ गया। कहा बाबूजी आप थक गये हैं, सो लो, आपका मैं आपको मिल जायगा। उसे विश्वास हो गया कि यह पुराना नौकर है झूठ न बोलेगा। कहीं देखा होगा, मिल जायेगा। बाबूजी सो गए। बादमें नौकरने जगाया, उठो बाबूजी देखो आपका मैं मिल गया कि नहीं। ज्यों ही जगे त्यों ही खाट पर हाथ फेरने लगे। बाबूजी बड़े खुश हुए ओह! मेरा मैं मिल गया।

व्यामोही प्राणीकी बेसुधी—अपनेको भूले हुए बाबूजीकी तरह ये लौकिकजन घर, दूकान इत्यादिकी सारी व्यवस्थाएँ बनाते हैं और इसका पता नहीं है कि मैं क्या हूँ, मुझे क्या करना चाहिये? ये सारी बातें भूल गए, इसका फल क्या होगा? यहाँ जो दिखती हुई मायामय दुनिया है यह असार

है। स्वप्नमें देखी हुई बात स्वप्नमें झूठ नहीं मालूम पड़ती, किन्तु जब जग जाता है तब पता होता है, ओह सारा झूठा देखा, ऐसे ही मोहकी नींदमें यह सब कुछ मायारूप नहीं मालूम होता, वह मेरे ही तो लड़के हैं, मेरा ही तो घर है। जो खुद है वह खुदको बड़ा अच्छा लगता। अभी किसी लड़कीसे कहो कि तुम लड़का हो तो वह कहेगी हट मैं क्यों लड़का होती? किसी छोटे लोगोंसे कहकर देख लो कोई बड़ी जातिका नाम लेकर तो वह उसे पसंद नहीं करता। मैं क्यों ऐसा होता? कैसा जाल छाया है, जो जिस पर्यायमें है, जो जिस ढंगमें है, तनमें है उसे वह ही सब कुछ मालूम होता है। आप किसी बूढ़े आदमीसे कहें कि तुम्हारे गाल भी पिचक गए, दांत भी गिर गए, सारा शरीर सिकुड़ गया, भूत जैसा तुम्हारा शरीर लगता है, देखो हमारा शरीर पुष्ट है, अच्छा है, इससे तुम राग करने लगो, अपने शरीरका राग छोड़ दो तो क्या वह अपने शरीरका राग छोड़ देगा? अरे कैसे छोड़ सकता है? उसके लिये तो वही अच्छा है।

धर्मपालनमें एकचित्ताकी आवश्यकता—यह लोक मायाजाल है, यह जन्म यह संसार अति ठगिया है। अब अपने कदम बढ़ावो आत्मकल्याणके लिये; जैसे किसी व्यापारीको समझाते हैं देखो तुम दसो काम न छोड़ो, किसी एक कामको मजबूती से पकड़ कर चलो तो तुम्हारा काम व्यवस्थित बनेगा। ऐसे ही थोड़ा पूजनमें आ गये, थोड़ा सत्संगमें आ गये, थोड़ा गुरुसेवामें आ गये, थोड़ा दूकानमें, थोड़ा लड़कों बच्चोंमें, सब काम कर रहे हैं। अरे, तुम जितनी देरको धर्म करना चाहो उतनी देरको ऐसा पक्का साहस बनाकर उतरो कि मेरा मात्र मैं हूँ, और चित्तमें प्रतीतिमें ऐसा दृढ़ विश्वास बना लो कि अब असार हैं बातें। मेरा तो केवल यह मैं चित्तस्वरूप ही मेरे लिये सार हूँ। प्रतीति बना लो ऐसी। देखो इस शुद्ध ज्ञानके प्रतापसे क्षमा, नम्रता, उदारता, सरलता सभी गुण विकसित हो जायेंगे। इन ग्रन्थकी भूमिकामें बात यह कह रहे हैं कि इस संसार को असार जानकर इसमें लीन मत हो और हितको न भूलो। एक आकांक्षा उत्पन्न करा रहे हैं ताकि हितभरी बातोंको सुनकर यह श्रोता अपना कल्याण कर सके।

अविद्याप्रसरोद्भूतग्रहनिग्रहकोविदम् ।

ज्ञानार्णवभिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ॥११॥

ग्रन्थकारका शुभ संकल्प—इस श्लोकमें ग्रन्थकार एक अपना शुभ संकल्प कर रहा है कि मैं इस ज्ञानार्णव ग्रन्थको कहूँगा। जो ग्रन्थ अज्ञानके फैलावसे उत्पन्न हुआ जो परिग्रह पिशाच ग्रह है उसका विग्रह करनेमें प्रवीण है। बताओ भैया! अनादिकालसे जो अज्ञान अंधकार आज तक छाया चला आ रहा है इसे समूल नष्ट करना है कि नहीं? नष्ट करना है ना? तो वह इन विधियोंसे ही तो नष्ट होगा। आचार्य सन्तोंकी वाणी सुनना, ज्ञान विज्ञानके भेदविज्ञानकी बात सुनना और सुनकर उनका आचरण करना यही तो पद्धति है, इस अज्ञान अंधकारके संकटोंको मिटानेकी। तो यह करना चाहिये ना? अब जितना विलम्ब आप करेंगे उतना ही और संकटोंमें रहनेकी बात है। इस ग्रन्थमें जो उपदेश होगा वह उपदेश अज्ञान अंधकारको मिटाने में समर्थ है।

आनन्दमन्दिर—यह ग्रन्थ सज्जन पुरुषोंके आनन्दका मंदिर है। ज्ञानकी बात सुनते जावो, प्रसन होते जावो, अपने आत्माके निकट आते जावो। यही तो एक बड़ा बहुत आराम है, लोग आराम समझते हैं स्वच्छन्द होकर पड़े रहनेमें। प्रमादी रहनेमें। पर आराम शब्द तो यह बतलाता है कि आराम! हे रामः आ। तब आराम है। रमन्ते योगिनः अस्मिन् इति रामः। जिस तत्त्वमें योगीजन रमण करें उसे राम कहते हैं। वह है सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमब्रह्म चित्तप्रकाश, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, ऐसी स्थिति आये तो उसका नाम है आराम। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मस्वरूपमें रमण करके आत्माके निकट पहुँचकर अपनी सारी थकानको दूर कर देते हैं। तो ये ज्ञानकी बातें आनन्दके घर हैं। और बाहरी प्रसंगोंमें कोई चित्त लगाता है तो उसमें उसे क्षोभ होता है, वे बाहरी प्रसंग शान्तिके कारण नहीं बन पाते हैं।

प्रकृत ग्रन्थकी विहतपक्षता—यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ दो विशेषणोंके द्वारा विशेष मर्म प्रकट कर रहा है एक तो यह कि ग्रन्थ सभी पक्षोंको मिटा देगा, एकान्त हठ मिटा देगा। ये जगतके प्राणी मिथ्यात्वके वशीभूत होकर अपनी-अपनी हठ बनाये हुये हैं। मिथ्यात्व दो प्रकारके हैं एक अग्रहीत और दूसरा ग्रहीत। एक तो बिना सिखाये मिथ्यात्व बनता है और एक सिखानेसे मिथ्यात्व बनता है। जैसे शरीरको अपना मानना, विषयकषायोंसे अपना हित समझना इन बातोंको कोई सिखाता हे क्या? यह अग्रहीत मिथ्यात्व है। इसमें पक्षमें बना है। क्या? जो मैं नहीं हूँ उसे मैं मानना, जो अपना अहित है उसे हित मानना। और सिखाये हुए मिथ्यात्वमें तो वह बड़े कलात्मक ढंगसे पक्ष का लोभी बनता है। जीव तो नित्य ही है, अनित्य ही है, एक ही है, अनेक ही है, इन एकान्तोंका पक्ष करता है। इस ग्रन्थके अध्ययनसे दोनों प्रकारके पक्ष दूर हो जायेंगे।

आनन्दधाम—ज्ञानार्णव शास्त्रका दूसरा विशेषण बताया है कि यह सज्जन पुरुषोंकेलिये शान्तिका मन्दिर है। ग्रन्थकी भूमिकाके बाद पहिले बारह भावनाओंका वर्णन आयेगा। उन भावनाओंमें जब हम भावित हो जावेंगे तब खुद समझेंगे कि हाँ आनन्द का देनेवाला यह ज्ञान है। इस ज्ञानको आनन्दमन्दिर कहा है। ज्ञानमें आनन्द विराजा है और यह ग्रन्थ भी ज्ञान है। ज्ञानरूप अर्णवमें अर्थात् समुद्रमें आनन्द बिराजा है। जैसे समुद्रमें अनेक रत्न भरे पड़े रहते हैं इस ही प्रकार इस ज्ञान समुद्रमें भी अनेक रत्न भरे पड़े हैं ऐसे इस ज्ञानार्णव ग्रन्थको अथवा ऋषि संतोंकी परम्परासे चले आये हुए विशेष विज्ञानको अब इस ग्रन्थमें कहेंगे।

अपि तीर्येत बाहुभ्यामपारो मकरालयः।

न पुनः शक्यते वक्तुं मद्भिर्धैर्यो गरञ्जकम् ॥१२॥

योगिरञ्जक तत्त्वके प्रतिपादनकी कठिनता—योगी पुरुषोंको कौनसी परिस्थिति रंजक होती है, उसका अर्थात् योगीजन किसमें रंजायमान रहा करते हैं, उस ज्ञानतत्त्वका वर्णन इस ग्रन्थमें करना अभीष्ट है लेकिन उस योगरंजकवृत्तिको हम सरीखे अल्पबुद्धि जन कहने में समर्थ नहीं हो सकते।

चाहे अपार समुद्रको भुजावोंसे तैर लिया जाये, यह सम्भव हो सकता है किन्तु योगी पुरुषोंका रंजक जो ज्ञानतत्व है, उसका वर्णन करनेमें हम जैसे लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं। यह कह रहे हैं इस ग्रंथके कर्ता शुभचन्द्राचार्य।

ज्ञातांशकी ही प्रतिपाद्यता—भगवान् अरहंत देव केवलज्ञानीके ज्ञानमें जितना जो कुछ ज्ञात है अर्थात् सब ज्ञात है वह उनकी दिव्यध्वनिमें प्रकट नहीं होता। उसका अनन्तवां भाग तो दिव्यध्वनिमें प्रकट हुआ उतना गणधरदेव झेल नहीं पाते। जितना गणधरदेव झेल पाते उतना अन्य आचार्य प्रतिपादन नहीं कर पाते। फिर सोचते जाइये, जिस आचार्यका जो ज्ञान था, जितना था वह सब प्रतिपादन नहीं किया जा सका और अपने से ही अनुमान कर लो ज्ञान धर्मके बारेमें जितनी बातें आप समझ सकते हैं उतना सब कुछ आप वचनोंसे बता सकते हैं? क्या कोई-कोई भाई तो यह स्पष्ट कह देते हैं कि देखो हमने समझ तो सब लिया है पर हम मुखसे कह नहीं सकते।

स्वसंविदित भावके पूर्ण प्रतिपादनकी अशक्यतापर एक लोकदृष्टान्त—जैसे अपार रत्नाकरमें रत्नोंके ढेर पड़े हैं, ज्वारभाटा आने पर अर्थात् पानीके घट बढ़ जानेसे, पानी के उथल-पुथल हो जाने पर रत्नोंके ढेर उसमें प्रकट हो जायेंगे, उन रत्नोंको आप देख सकते हैं पर गिन नहीं सकते हैं। रत्नोंकी बात दूर जाने दो, पानीके हट जानेके बाद रेत रह जाता है। रेतके मोटे-मोटे कण अथवा छोटे-छोटे पत्थर जैसे देहरादूनकी बरसाती नदियोंमें छोटे-छोटे पत्थर प्रकट होते हैं, आप उन सबको देख सकते हैं, पर गिन नहीं सकते। ऐसे ही जो एक अद्भुत महिमावाला शरणभूत ज्ञानतत्त्व है, परमात्मतत्त्वका मर्म है उसका आप अनुभव तो कर सकते हैं, पर उसका प्रतिपादन नहीं कर सकते।

अनुभाव्यता और अप्रतिपाद्यता—जैसे जो कुछ आप खाते हैं बढ़िया सरस भोजन मिश्री, बर्फी वगैरह या अन्य कोई स्वादिष्ट व्यञ्जन, तो उसके बारेमें आप पूरा अनुभव कर लेंगे, कुछ कसर नहीं रह सकती। मीठा है, स्वादिष्ट है, भला रुचनेवाला है, यों सबकासब आप पूरा अनुभव कर लेंगे। वहाँ कसर न रहेगी, लेकिन जिसे अनुभव किया है उसे आप वैसा ही वचनोंसे बता दें क्या यह हो सकता है? वचनोंसे आप यही तो कहेंगे कि यह मीठा है, पर इसे समझ नहीं पायगा कोई जिसने कभी मीठा रस न चखा हो। ऐसे ही ज्ञान तत्त्व यह आत्माका शुद्ध स्वभाव जिस रूप अपनेको माना उसका प्रतिपादन कहाँ किया जा सकता है। भैया! जिस दिन मान जायेंगे यथार्थ कि मैं तो यह हूँ, उस दिनसे सब संकट दूर हो जायेंगे।

योगिरञ्जक तत्त्वकी महत्ता व ग्रन्थकर्ताकी लघुताका वर्णन—जैसे अभी ये अज्ञ मनुष्य माना करते हैं ना कि मैं अमुक चंद हूँ, अमुक भक्त हूँ, अमुक प्रसाद हूँ, ऐसा ही अनुभव अपने बनाये रहते हैं ना, तब किसीने प्रतिकूल बात कह दी तो परमें आत्मीयता की बात अपने अनुभवमें होनेसे “मैं” यह हूँ, इसने मुझे यों कह दिया यों विचार आया कि लो दुःखी हो गये। अरे, ये सब व्यर्थकी बातें हैं, सब मायाजाल है, सदा रहनेकी नहीं हैं, न यह मेरा नाम है, न यह मेरी पोजीशन है, न ये सब वैभव समागम कुछ भी है। ऐसा यथार्थ अनुभव जब होगा कि मैं आत्मा तो मात्र एक जानन

देखनहार अमूर्त तत्त्व हूँ, जिसका नाम भी नहीं है जिस दिन यह बात अनुभवमें आ जायेगी, उस दिन से यह बात ध्रुव सत्य है कि सब संकट मिट जायेंगे। घरमें रहते हुये भी संकट न आयेंगे। घरमें ज्यादा दिन तो फिर वह रहेगा ही क्या, उस स्थितिमें जैसे भी संकट न आयेंगे। घरमें ज्यादा दिन तो फिर वह रहेगा ही क्या, उस स्थितिमें जैसे भी संकट न आयेगा और बहुत ही शीघ्र व्यक्ति निःसंकट हो जायेगा। प्रभुता प्रकट हो जायेगी, उस तत्त्वका इस ग्रन्थमें वर्णन है और जिन विधियोंसे वह तत्त्व अनुभवमें आ सकता है उन सब विधियोंका ढंगसे वर्णन है। इस पर भी ग्रन्थकर्ता आचार्य कह रहे हैं कि हम इसको कहनेमें क्या समर्थ हैं?

महामतिभिर्निःशेषसिद्धान्तपथपारगैः ।

क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र कोऽन्यः प्रसर्पति ॥१३॥

सिद्धान्तपथमें महामतियोंके दिग्मोहकी संभावना—अरे जहाँ बड़ी बुद्धिवाले लोग, इस सिद्धान्त मार्गके पार करनेवाले भी लोग दिशा भूल जाते हैं, तब अन्यजन उसे किस प्रकार पार कर सकते हैं? यह ज्ञानार्णव, यह ज्ञानसमुद्र अथा है। इसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी भूल जाते हैं चकरा जाते हैं, अन्य पुरुषोंका तो कहना ही क्या है? जिन्होंने बड़े-बड़े शास्त्रोंका अध्ययन किया, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री इत्यादि, वे समझ सकते होंगे कि आचार्योंकी कितनी प्रखर बुद्धि थी, कैसा सुलझा हुआ सूक्ष्मतत्त्व किसी प्रकारके वचनोंसे उन्होंने प्रस्तुत किया है, वे भी यह कहते हैं कि हम अल्प बुद्धिवाले हैं। हम इसमें कहाँ पार पा सकते हैं?

श्रद्धालु व मूर्खोंकी पद्धतिका अन्तर—भैया! कलिकी महिमा देखो यह आजके समयका दुर्भाग्य कहिये या लोगोंका दुर्भाग्य कहिये कि कुछ लोग ऐसे भी साधु संत रूप में आकर खड़े हो जाते हैं कि जो यह कहनेका भी साहस और यत्न करते हैं कि यह आचार्य भूल गये, यह गलत है, हम जो लिखते हैं वह सही है और इन अश्रद्धालुओंको प्रोत्साहन देने वाले भी हम हैं। भक्ता तत्त्वार्थसूत्र अथवा षट्षण्डागम जैसे बड़े ग्रन्थों की टीका करने वाले अनेक अचार्य हुए हैं और उन आचार्योंने सूत्रोंमें एक-एक शब्दका सार्थक्य बताया है, और कदाचित् कोई शब्द फालतू भी हो जाय, फालतू नहीं होता पर बोलनेकी एक शैली हुआ करती है। कुछ विश्राम लेनेके लिये कोई शब्द आ जाय तो उस शब्दमें आचार्यने बड़ी महिमा प्रकटकी है। उन ऋषि संतों द्वारा जो टीकायें की गई हैं उनमें दोषप्रतिपादन करनेकी बात कहीं पर नहीं आयी है। ये कहलाते हैं श्रद्धालुजन।

सिद्धान्तकी गहनता—आचार्यदेव यहाँ यह कह रहे हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी गहन शास्त्रोंकी चर्चामें चूक जाते हैं तो हम लोगोंकी बात ही क्या है? समयसार ग्रन्थ अध्यात्मग्रन्थोंमें एक प्रधान ग्रन्थ है। कैसे-कैसे रत्न उसमें छिपे पड़े हैं? विद्वान् पुरुषोंकी दृष्टिमें उन्हें नहीं पहुँचाया है प्रमादवश, पर जिन समझदार लोगोंके हाथमें यह ग्रन्थ पहुँचता है वे उसकी महिमाको जानते हैं। श्रीमद् रामचन्द्र जो कि गांधी जीके भी गुरु थे, गांधी जी ने विलायत जाते समय जिनसे कुछ व्रतोंका संकल्प किया था, वे प्रसिद्ध जौहरी थे पि० जैन। उनके हाथमें जिस समय किसीने समयसार ग्रन्थ दिया और उसकी पहिली दो पंक्तियां पढ़ीं तो तुरन्त ही इतने हर्षित हुये कि यह न देखा कि हम

पुरस्कार में इसे क्या दिये दे रहे हैं? जो भी हाथकी मुट्ठीमें आया वह उसे इनाममें दे दिया। उसमें बहुतसे हीरा रत्न थे।

जड़ वैभवकी निःसारता—भैया! तीनों लोकोंका वैभव भी ये सब जड़ पदार्थ हैं, ये क्या वैभव हैं। यथार्थ वैभव तो सम्यग्ज्ञान है और वही वास्तविक अमीर है जिसने निजको निज परको पर अनुभव किया, रहना तो किसीके पास कुछ भी नहीं है, छूटेगा तो निश्चयसे। अब बुद्धिमानी यह है कि उसे अपने जीवनमें ही समझ बूझकर ज्ञानोपयोगका बल बढ़ाकर उसे छोड़ दें। छूटना सबका ही है। एक बार अकबर बादशाहने बीरबल से पूछा—बीरबल यह तो बतलावो कि हमारी हथेलीमें रोम क्यों नहीं हैं? किसीकी भी हथेलीमें रोम नहीं होते हैं ना? तो बीरबल बोला—महाराज! आपने अपने हाथोंसे इतना दान दिया कि दान देते-देते आपकी हथेलीके रोम झड़ गये। अच्छा, बीरबल! तुम्हारी हथेलीमें रोम क्यों नहीं हैं? बीरबल बोला—महाराज आपसे मैंने इतना दान लिया कि दान लेते-लेते हाथोंके रोम झड़ गये। और ये सभी जो सभामें बैठे हैं इनके हाथोंकी हथेलीमें रोम क्यों नहीं हैं? महाराज! आपने दान दिया, मैंने लिया और बाकी लोग यों ही हाथ मलते रह गये, सो हाथ मलते-मलते हथेलीके सारे रोम झड़ गये।

यथार्थ प्रकाशमें भलाई—भैया! छूटना तो सबका है, बुद्धिमानी यह है कि विवेक पूर्वक इस जीवनमें ही परको छोड़ दिया जाय। यदि नहीं छोड़ सकते तो परको छूटा हुआ ही समझ लें, उससे विरक्त रहें। अन्यथा कोई होनहार अच्छा न रहेगा। यह तो एक निमित्तनैमित्तिक अथवा वैधानिक बात है कि उस धन वैभवके पीछे कुछ ऐसा वातावरण बन जायेगा कि उसके पीछे दुःखी होना पड़ेगा। जैन शासनकी सच्ची उपासना यही है कि सम्यग्ज्ञान उत्पन्न कर लें। अन्तरङ्गमें समझ तो जावें कि यह मैं हूँ और ये सब परतत्त्व हैं। ऐसे प्रकट भिन्न आत्मस्वरूपको इस ग्रंथमें दिखाया जायेगा।

ग्रन्थकर्ताका लघुता प्रदर्शन—इस ग्रन्थको बनाते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि इसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् कहीं-कहीं चूक सकते हैं तो हम सरीखे छोटे लोग इस ग्रन्थको यथावत् न विदित कर सकें यह तो हो ही सकता है। देखिये कोई काम परोपकारका करे और अपने मुखसे कह दें दूसरोंपर अहसान लाद दें कि देखो मैंने ऐसा किया तो लोगोंकी दृष्टि में वह शोभा नहीं देता है। और कहनेमें कितना आनन्द आता कि भाई मैंने कुछ नहीं किया। आप लोगोंका उत्साह था, आप लोगोंकी भावना थी, आप सब लोगोंका प्रताप था सो यह काम बन गया। ऐसा यदि वह कहता है तो इसमें उसकी इज्जत बढ़ जाती है। अगर कोई ग्रन्थ बनाने वाला भूमिकामें ही यह बात लिख दे कि यह ग्रन्थ मैं ऐसा लिखूँगा जैसा कि तुम्हारे बाप दादोंने भी न लिखा होगा तो कौन उसकी इज्जत करेगा? उसकी न कोई सुनेगा और न किसीका उस ग्रन्थके प्रति आकर्षण होगा। जब इसे ही ज्ञान नहीं है, ज्ञानरसमें खुद नहीं डूब सकता है तो यह कहेगा ही क्या? आचार्यदेव भूमिकामे अपनी लघुता प्रदर्शित कर रहे हैं।

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तरश्मयः।

व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥१४॥

अगाध ज्ञान में अल्पज्ञोंकी दुर्गमता—जहां समंतभद्र आदिक बड़े-बड़े कवीन्द्र रूपी सूर्यकी निर्मल उत्तम वचन किरणें फैलती हैं वहां थोड़ा ज्ञान पाये हुये जन्तुवोंके समान मनुष्य क्या अपनी हँसी न करायेगा? भला जब समंतभद्राचार्यके ज्ञानका कुछ अन्दाज बनता है तब यह बहुत जल्दी समझमें आता है कि जरूर केवलज्ञान अनन्त, असीम व अथाह है। जब इस ज्ञानकी भी बड़ी महिमा है तो केवलज्ञानकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है और देखो जो सातिशय महिमा वाला है केवलज्ञान, वह केवलज्ञान हम आप सबमें शक्ति ओर स्वभावमें बराबर पड़ा हुआ है। केवल एक परपदार्थोंको पर समझकर तत्सम्बन्धी रागद्वेष मोहको दूर करने भरका काम है। यह केवलज्ञान तो प्रकट होनेके लिये अभी भी बैठा है, बड़ा प्रकाश होता है। सूर्यके नीचे बादलकी टुकड़ी आ जाय तो बादल चलने फिरने वाले हैं, सूर्य भी चलता है, तो वह प्रकाश करनेके लिये ही उद्यत है। ऐसे ही यह रागद्वेष मोहादिका आवरण इस ज्ञानपुञ्ज पर पड़ा हुआ है, इसके कारण केवलज्ञान प्रकट नहीं हो पाता है। एक ये आवरण ही हट जायें तो यह केवलज्ञान तो सदा प्रकट होनेके लिये उद्यत है। जो इस की महिमा है उसे समझें नहीं तो अपनी सांसारिक पर्यायों पर दृष्टि देकर अपनेको तुच्छ मानते हुये हम बड़ी खोटी स्थिति में पड़े हुए हैं, बंधनमें बंधे हैं।

समन्तभद्र स्वामीकी स्तवन कुशलता—समंतभद्र स्वामीने एक स्तोत्र बनाया जिसका नाम है स्वयम्भूस्तोत्र, जबकि अपनी भस्मव्याधिको दूर करनेके लिये खूब अन्न खाकर भस्मव्याधि मेटी थी। बादमें राजाने कहा कि तुमको हमारी मूर्तिको नमस्कार करना होगा। कहा अच्छा कल नमस्कार करेंगे। रात्रिको स्वयंभू स्तोत्रमें २४ भगवानकी स्तुति करने लगे। त्वें भगवानकी स्तुति करते समय चक्रेश्वरी देवी प्रकट हुई, बोली महाराज, आप चिन्ता न करें। यह मूर्ति तुम्हारे नमस्कारको झेल नहीं सकती। जब उस मूर्तिको नमस्कार करने लगे तो उसमें चंद्रप्रभुकी मूर्ति प्रकट हो गई। आप कहेंगे कि ७ तीर्थकरों की स्तुतिमें गुणानुवाद तो किया था, पर नमस्कार न किया था। त्वें तीर्थकरकी स्तुति में नमस्कार करता हूँ इतना शब्द कह दिया जिससे मूर्ति प्रकट हुई।

समन्तभद्र स्वामीकी परीक्षा प्रधानता—समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसा रची, पश्चात् उन्होंने युक्त्यनुशासन ग्रंथ बनाया, जिसमें प्रथम ही प्रथम कहा है कि हे भगवान अब मैं आपका स्तवन करता हूँ। आप्तमीमांसामें भी किस तरह स्तवन किया है कि सारा लोक दर्शन आ गया, स्याद्वादने उसका समर्थन किया नयचकके विभागसे कहकर व फिर स्याद्वाद सिद्धान्त रखा, इतनी बड़ी स्तुति करनेके बाद कहते हैं कि अब मैं स्तुति करता हूँ। ऐसा क्यों? सुनो नाथ, अब तक तो मैंने आप्तमीमांसामें आपकी परीक्षा की, कि मेरे स्तवनके लायक है कौन? अब मैंने सिद्ध कर लिया, मेरे स्तवनके लायक ये वीतराग देव हैं, उनको मैं अब नमस्कार करता हूँ। एक स्तवन तो परीक्षा-परीक्षामें ही बना डाला।

आप्तकी मीमांसा—आप्तमीमांसाके स्तवनका थोड़ासा प्रारंभका सारांश सुनायें हे नाथ! आपके पास देव आते हैं इसलिए आप बड़े नहीं, आप आकाशमें चलते हो इसलिये आप बड़े नहीं, आप पर

चमर दुलते हैं इसलिये आप बड़े नहीं। भगवानकी ओरसे कोई वकील कहने लगे कि ऐसा क्यों है? तो कहते हैं कि ये बातें तो मायावी पुरुषोंमें भी पायी जा सकती हैं। अच्छा तो भगवानका शरीर पवित्र है, परमौदारिक है तो भगवान बड़े हैं कि नहीं? ऐसा मानो भगवानकी ओरसे कोई कह रहा है। तो कहते हैं कि ऐसा दिव्य शरीर तो इन्द्रोंके, देवोंके भी पाया जा सकता है, इससे भी आप बड़े नहीं हैं। तो फिर किस बातसे बड़े हैं। दोष, अज्ञान, आवरण हट जानेसे निर्दोषता प्रकट हुई है इसलिये आप बड़े हैं। महाराज जो निर्दोष होता है उसके वचन भी अच्छे निकलते हैं, मैंने आपके वचनोंसे पहिचाना कि आप निर्दोष हैं। ऐसे निर्दोष वचनोंका विश्लेषण समन्तभद्रने किया, उसका मर्म तो वे ही समझ सकते हैं जो ज्ञानीजन हैं।

महापुरुषोंकी निरङ्कारताका दर्शन—यहाँ शुभचन्द्र आचार्य कह रहे हैं कि समन्तभद्र आदिक सूर्यकी जहाँ वचनकिरणें फैल रही हों वहा कुछ अल्पज्ञ पटजुगनू क्या प्रकाश करेंगे? तो चुप होकर क्यों नहीं बैठ जाते? उद्यम ही क्यों करते? उद्यम यों किया है कि साधारणजन भी ज्ञान प्राप्त करें, लोगोंको जतानेके लिये यह उद्यम आचार्यदेव ग्रन्थ बनानेसे पहले अपनी लघुता प्रकट कर रहे हैं। हम आपको भी यह शिक्षा लेना चाहिये कि किसी बातमें अहंकार न आने पावे। क्या ज्ञान पाया है? क्या वैभव पाया है? बड़े-बड़े ज्ञानी, बड़े-बड़े वैभववान् हुए हैं। अपना काम निकाल लें ज्ञान बढ़ाकर इस भवको और जैन शासनके समागमको सफल करें।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।

कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवन्दी नमस्यते ॥१५॥

आचार्य देवन्दीको नमस्कार—मन, वचन, कायसे उत्पन्न होने वाले कलङ्कोंको जिन्होंने दूर कर दिया है ऐसे देवन्दी आचार्यको यहाँ नमस्कार कर रहे हैं। प्रभु स्मरण के बाद आचार्य समन्तभद्र स्वामीको स्मरण किया था और अब देवन्दी आचार्यका स्मरण कर रहे हैं। देवन्दी आचार्यका द्वितीय नाम पूज्यपाद स्वामी है। ऐसी प्रसिद्धि है कि जो १० भक्तियां बनी हैं उनमें जो प्राकृतकी भक्तियां हैं वे तो कुन्दकुन्दाचार्य देवकृत हैं और जो संस्कृतकी भक्तियां हैं वे पूज्यपाद स्वामी कृत हैं। पूज्यपाद स्वामीके बनाए हुये अन्य भी ग्रन्थ हैं, जिनमें सर्वथा सिद्धि समाधिशतक आदि सिद्धान्त ग्रन्थ व वैद्यक आदि विषयोंमें ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन देवन्दी आचार्यको यहाँ शुभचन्द्रदेव नमस्कार कर रहे हैं।

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः।

योगिभिर्यत्समासाद्य स्वलितं नात्मनिश्चये ॥१६॥

भगवज्जिनसेनाचार्यको नमस्कार—जिनसेनाचार्यके वचन जयवंत रहे जो योगीश्वरों के द्वारा वंदनीय हैं। जिनके वचनोंका आश्रय करके योगीजन आत्माके निश्चयमें स्वलित नहीं होते हैं। ये जिनसेनाचार्य भी अपने समयमें बहुत प्रसिद्ध हुये हैं। भगवान जिनसेनाचार्यके समयमें एक बार ऐसी घटना हुई कि उनके साहित्यिक अनेक रसोंसे भरे हुए ग्रंथोंको देखकर विद्वानोंने उनपर शंका की। उस समय आचार्यदेवने बड़ी भरी राज सभामें शृङ्गार प्रमुख ढंगसे एक कथानक बोला तो उसमें

कामरसका भी बहुत वर्णन किया, जैसे कि साहित्यमें करना पड़ता है, जिस वर्णनको सुनकर बहुतसे लोग अपने भावोंमें विकृत हो गये, तो लोगोंकी उस समय जो ये शंकायें थीं कि इन्होंने ऐसे ग्रन्थों में जो बहुत-बहुत वर्णन किया है ऐसे कामरसका वर्णन जिनसेनाचार्य जैसे वैरागी पुरुष किस प्रकार कर सकते हैं? इसका समाधान उस सभामें हुआ था, जिस सभामें इतना वर्णन करने पर भी ये अविकृत और शान्तमुद्रामें रहे। जिनसेनाचार्यने उस समय जिनशासन की बड़ी रक्षा की जबकि लोग दूसरोंके आतंकसे विचलित हो रहे थे। उन जिनसेनाचार्य को शुभचन्द्राचार्य नमस्कार कर रहे हैं।

**श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥१७॥**

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवका अभिवन्दन—श्रीमद्भट्ट अकलंकदेवकी पवित्र सरस्वती हम सब की रक्षा करे जो सरस्वती अनेकांत स्याद्वादरूप है, चंद्रमाकी किरणकी तरह प्रकाश करती है। जैसे चंद्रमा आकाशको प्रकाशित करता है ऐसे ही भट्ट अकलंककी वाणी इस लोकके विद्वानोंके जगतमें प्रकाशक है। अकलंकदेव कितने स्याद्वाद प्रिय थे, इनकी ग्रन्थ रचनामें जगह-जगह इसका दिग्दर्शन होता है। एक इनका बनाया हुआ 'स्वरूप सम्बोधन' स्तोत्र है जिसमें मंगलाचरणमें ही यह कह रहे हैं—ये भगवान, जिनको नमस्कार कर रहे हैं वे भगवान मुक्त भी हैं और अमुक्त भी हैं। सुननेमें तो कड़वासा लगता होगा। मुक्त जीवोंको अमुक्त बता दिया, पर स्याद्वादका इसमें दर्शन है। मुक्त मायने छूटा हुआ। तो सिद्ध भगवान कर्मोंसे छूटे हुये हैं, पर ज्ञानादिक गुणोंसे तो अमुक्त हैं, छूटे नहीं हैं। सो कथञ्चित् परमात्मा मुक्त हैं और कथञ्चित् अमुक्त हैं। ऐसे दो विशेषण देकर नमस्कार किया है।

अकलङ्कदेवको स्याद्वादप्रियता—तत्त्वार्थ सूत्रकी व्याख्या करते हुए भट्ट अकलंकदेवने स्याद्वादका भी दिग्दर्शन कराया है। स्याद्वादमें यह आता है ना कि स्याद अस्ति, स्यात् नास्ति। कथाञ्चित् नहीं है। जैसे यह घड़ा है। यह है तो यह घड़ा के रूपसे है और कपड़ा आदिक अन्यरूपोंसे नहीं है। इसीको कहते हैं स्याद् अस्ति स्यात् नास्ति। यह घड़ा अपने स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नहीं। अब इसकी और व्याख्यामें बढ़ें, तो जब हम आंखोंसे देखकर चल रहे हैं कि यह घड़ा है तो रूपकी दृष्टिसे यह घड़ा है और उस ही में रहने वाले रस आदिककी दृष्टिसे घड़ा नहीं है। ये चक्षुरिन्द्रिय रस आदिकको विषय नहीं ही करतीं, अथवा यह घड़ा जैसा इसका आकार है उस आकारसे यह घड़ा है और अन्य घड़ोंके आकारसे जितने भी आकार हैं उन आकारोंसे यह नहीं है, अथवा हमारे ज्ञानमें आया है यह घड़ा है तो हमारे ज्ञानमें जो घट बसा हुआ है, जो घट ज्ञेयाकार मेरे आत्मा में परिणमन है उसकी अपेक्षासे घड़ा है और वही जो रखा हुआ सामने है उसकी अपेक्षासे घड़ा नहीं है। इसमें बहुत स्याद्वादकी छटा दिखायी है। तो जो स्याद्वाद विद्याके अधिकारी थे ऐसे अकलंकदेवका इस लोकमें स्मरण किया जा रहा है।

**भावपु भावदु वारिवले शासन्तापपीडितम् ।
योजयाम्यहमात्म न पथि योगीन्द्रसेविते ॥१८॥**

ग्रन्थरचनाका लक्ष्य—शुभचन्द्राचार्य इस छंदमें कहते हैं कि इस ग्रन्थकी रचनासे संसार में जन्म

लेनेके दुर्निवार क्लेशके संतापसे पीड़ित मैं अपने आत्माको योगीश्वरोंसे सेवित ज्ञानध्यानरूपी मार्गसे जोड़ता हूँ। यहाँ ग्रन्थ रचनाका प्रयोजन दिखाया है, यह ग्रन्थरचना क्यों की जा रही है? ग्रन्थरचनाका उद्देश्य यही है कि मैं अपने आत्माको ऐसे ज्ञानतत्त्वमें लगाऊँ जिस ज्ञानतत्त्वमें जुड़नेसे मेरे संसारके समस्त संकट कट जायेंगे। जगतमें सब कुछ सुलभ है। जो भी वैभव मिला है, कल्पना करलो कि तीनों लोकोंका भी जड़ पदार्थोंका समूह इकट्ठा आपके घरमें आ जाये तो भी उसे आपके क्लेश न मितेंगे। क्लेश मिटानेका वह साधन ही नहीं है। क्लेश मितेंगे तो एक सम्यग्ज्ञानसे। अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी खबर होनेसे क्लेश दूर होंगे।

ग्रन्थकर्ताकी भावना मैं ऐसे ज्ञानतत्त्वका प्रतिपादन करूँगा जिस प्रसंगमें अपने ज्ञानतत्त्वका स्पर्श कर सकूँ और अपने आपको ज्ञानमें जोड़ सकूँ। फिर दूसरेका उपयोग होता है तो वह हो, पर आचार्यदेव इतने मात्र भावसे कि मैं दूसरे लोगोंका उपकार करूँ, ग्रन्थ रचें तो उसका उद्देश्य तो लोग झट कह देंगे, बड़ा अच्छा है, पर हितके अनुकूल नहीं है। जिसकी ग्रन्थ रचनामें अथवा उपदेशमें भी अपने आपकी सुध लेनेका लक्ष्य भी नहीं है, केवल एक यही भाव बनाया है कि मैं लोगोंको समझाऊँ, इनका उद्धार कर दूँ, तो परकर्तव्यका भाव हो सकता है और इससे मिथ्या आशय बन सकता है। मुख्य प्रयोजन यह था कि मेरा उपयोग ज्ञानके प्रसंगमें जुड़ा रहे, नाना जगहोंमें मेरा उपयोग न भ्रमे। शुभचंद्राचार्य भी इस ग्रन्थ रचनाकी भूमिकामें यह बात बता रहे हैं कि मैं अपने आत्माको योगीन्द्रसेवित ज्ञानपथमें जोड़ूँ, इस आशयसे इस ग्रन्थको रच रहा हूँ।

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।

कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ॥१९॥

अभिमानादिका अभाव मैं इस कृतिको कहीं कर्तृत्वके अभिमानसे नहीं कर रहा हूँ और न मैं लोकेषणासे अर्थात् लोकमें मेरी कीर्ति फैले इस इच्छा से भी मैं नहीं कर रहा हूँ किन्तु अपने आपका मुझमें बोध बना रहे, इस प्रयोजनसे ही यह कृति हो रही है। जिन संतजनोंके संस्थानविचय नामक धर्म ध्यान रहा करता है, जिस ध्यानमें तीन लोक की रचना स्पष्ट उपयोगमें बनी रहती है और तीन कालमें जो कुछ रचना है वह भी प्रजोनात्मक उपयोगमें बनी रहती है, जिसके ज्ञानमें इस समस्त दुनियाका भी स्मरण है। कितना बड़ा लोक है और कालका भी स्मरण है, यों लोक और अलोकका जहाँ ध्यान रहता है, उनकी लोकमें मेरी कीर्ति फैले यह इच्छा कभी नहीं हो सकती।

लोकरचना विज्ञानका प्रभाव जिनके ज्ञानमें यह बात पड़ी हुई है कि यह लोक ३४३ घनराज् प्रमाण है, और उस लोकमें यह जीव प्रत्येक प्रदेश पर जन्म लेता आया है। अनन्तान्त जीव इस लोकमें भरे पड़े हैं। उन अनन्तोंमेंसे ये १०-२० हजारका यह मनुष्यलोक किसी गिनती में है? यह तो स्वयंभूरमण समुद्र बराब जलमें बिन्दुकी तरह भी गिनती नहीं रखता है। इसमें कुछ बात चल उठे, कीर्ति फैले, यह लोक मेरा नाम ले तो इससे क्या होता है? अभी अनन्तान्त जीवोंने तो नहीं जाना, अथवा ये लोग कुछ भी कहें उनसे भिन्न मेरा आत्मा है, इनसे मेरा क्या सुधार हो जायेगा? वे सब

भी अपनी परिणतिके करने वाले हैं, यह मैं भी अपनी परिणतिका करने वाला हूँ। जिसे कालकी खबर है अनन्तकाल व्यतीत हो गया और उससे भी अनन्तगुण अनन्तकाल व्यतीत होगा। ऐसे इस असीम कालकी जिसे स्मृति है उसके प्रति कीर्ति प्रसारकी इच्छा नहीं जग सकती। क्या कीर्ति? कुछ वर्णन स्वार्थीजनोंने गा दिया, नाम ले लिया तो उससे इस आत्माकी कौनसी सिद्धि हो जाती है?

ज्ञानीके कीर्तिप्रसारका अभाव—आचार्यदेव इस ग्रन्थरचनाको कर रहे हैं, उसमें उन के यह भाव नहीं है कि लोग मुझे समझें, लोग मेरा नाम लेते रहें, हाँ हुये हैं शुभचन्द्राचार्य। नामसे क्या है? मान लो कोई दूसरा अपना नाम मुनि होकर शुभचन्द्राचार्य रख ले तो कोई अगर नाम भी लेगा तो इनका भी नाम आ गया, क्या इसकी भी कीर्ति बन गयी क्या? और उन शुभचन्द्राचार्यकी कोई शक्ल-सूरत भी जानने वाला नहीं है, वह तो अब कहींके कहीं होंगे। तो कीर्तिमें और कीर्तिप्रसारमें कुछ दम नहीं है।

ग्रन्थरचनाका उद्देश्य—जिनकी इस पर्यायमें ममता है, जिनके वैभवमें मूर्च्छा है वे पुरुष शान्तिके कैसे पात्र हो सकते हैं? मूर्च्छाको ढीला करना ही पड़ेगा यदि शान्ति चाहिये हो। मूर्च्छाको तो समझिये कि यह इस जीवकी कुबुद्धिका कारण है और विपत्ति का कारण है। किस बातपर अभिमान? जैसे धन एक विनश्वर वस्तु है ऐसे ही दुनिया को दिखाये जा सकने वाले ये ज्ञान, ये कलायें भी विनश्वर चीजें हैं। न धनका अभिमान योग्य है और न ज्ञानका अभिमान योग्य है। मैं पंडिताईके अभिमानसे इस ग्रन्थको नहीं रच रहा हूँ, केवल अपने बोधके लिये अपनेमें अपना प्रकाश बना रहे, इसके लिये ही यह मेरी कृति है।

धर्मोपदेश स्वाध्यायमें भी स्वका अध्ययन—धर्मोपदेश नामका एक भेद है स्वाध्याय का। स्वाध्यायके ५ भेदोंमें अंतिम भेद धर्मोपदेश है, धर्मका उपदेश देना और स्वाध्याय कहते उसे हैं जिसमें स्वका अध्ययन बन जाय। अपने आत्मस्वरूपका मनन बने तो धर्मोपदेशमें अपने आत्माका अध्ययन कैसे होता है? फिर यह स्वाध्यायका भेद कहाँ रहा? यह शंका की जा सकती है तो उसमें यह समझना चाहिये कि उपदेश देना दूसरोंका आधार बनाकर आश्रक बनाकर हुआ करता है। कोई पुरुष अकेले ही कहीं बैठकर ग्रन्थ खोलकर इसे बोलता हो, ऐसा कहीं देखा है क्या? सुनने वाले हों, उनको उपदेशके माध्यमपर, आधारपर वह धर्मोपदेश चलता है। ठीक है फिर भी धर्मोपदेशमें ज्ञानी पुरुषों की नीति और झुकाव यह रहता है कि जो कुछ बोल रहा हूँ यह अपने आपको सुना रहा हूँ। जैसी भावना करनेके लिये मैं कह रहा हूँ। ज्ञानी वक्ता अपने आपमें घटित करनेके ध्येयसे कह रहा है, खुद खुदको उपदेश दे रहा है। धर्मोपदेशमें आन्तरिक दृष्टि ऐसी बनती है। बाह्यदृष्टिमें तो यह बात ठीक है कि दूसरोंके उपयोगके लिये श्रोताजनोंकी साधनाके लिये यह बोला जा रहा है, पर इस बातकी मुख्यता नहीं है, इसमें अपने बोधकी ही मुख्यता है।

स्वयंमें वक्तृत्व व श्रोतृत्व—भैया! यह बात भी खूब संभव है कि धर्मोपदेशके निमित्त तो पर होते हैं, कर रहे हैं। धर्मोपदेश किस ही प्रकार हो रहा है, फिर भी उसमें यह झुकाव बनाया जा सकता

है कि मैं बोल रहा हूँ तो सुन भी तो मैं रहा हूँ। जो कुछ बोलता हूँ वह सब मैं सुन लेता हूँ। यदि मैं बात खुद नहीं सुन सकता तो बोल भी नहीं सकता। क्या बोला, क्या बोल रहे हैं ये सब बातें हम अपने कानों से सुन लेते हैं। तो जैसे हम बोलते हैं आप लोग सुनते हैं ऐसे ही मैं भी तो सुन रहा हूँ। तो जैसे दूसरा बोले और मैं सुनूँ तो उसका अर्थ मैं अपने पर घटा सकता हूँ ऐसे ही मैं ही बोलूँ और मैं ही सुनूँ तो क्या वहाँ उस बतानेका मर्म, अर्थ अपने आपपर नहीं घटित कर सकूँगा? घटित किया जा सकता है। इसी तरह कोई चीज लिखी तो लिखते हुये उसको साथ ही साथ मैं अपने भीतर बोलता भी तो जाता हूँ, हर एक कोई समझ लेगा। कुछ लिखा जा रहा हो तो उतने शब्द मुखसे न बोले तो भी भीतरमें वे शब्द निकल जाते हैं। तो लिखते हुएमें भी जो मैं लिख रहा हूँ। वे शब्द मेरे बोधके लिये हैं, उसको अपने आपपर घटित करते जाइये। तो आचार्यदेव यहाँ यह बतला रहे हैं, कि मुझे इस कृतिके करनेमें अभिमान नहीं है, मेरी कीर्ति फैले ऐसी भी इच्छा नहीं है, किन्तु मैं अपने आपको बोध करनेकेलिये, यों सम्बोधनेकेलिये ही यह ज्ञानार्णव नामकी कृति कर रहा हूँ।

ग्रन्थकर्ताके विचारका निर्देशन—इस प्रसंगमें आचार्यदेवने अपनी लघुताको प्रदर्शित किया है और ग्रन्थरचनाका मेरा सही उद्देश्य क्या है? उस पर प्रकाश डाला है। यों प्रयोजन दिखानेके बाद अब एक साधारणरूपसे यह बात बतावेंगे कि सत्पुरुष जो शास्त्र रचना करते हैं तो उस प्रसंगमें उनका विचार किस-किस प्रकारसे होता है? भूमिका वाली इतनी बातें सब ज्ञानमें आने पर एक स्पष्टता हो जाती है उपयोगमें और फिर प्रतिपाद्य विषयको उस ही रूपमें ढालनेकी इनकी प्रवृत्ति होती है, इस कारण एकदम सीधा उपदेश न देकर पहिले उस उपदेशको धारण करनेके लिये जिस-जिस विचार और वृत्तिकी आवश्यकता है, उन-उन विचारों और प्रवृत्तियोंको बतानेके लिये अभी भूमिका चल रही है। अब इसके बाद ग्रन्थरचना किस-किस विचारसे साधु-संत पुरुष किया करते हैं इस पर कुछ प्रकाश आयेगा।

ग्रन्थरचना प्रेरक विचारोंके प्रदर्शनका उद्यम—ग्रन्थकर्ता श्री शुभचन्द्राचार्य शास्त्र की भूमिकामें यह बतला रहे हैं कि सत्पुरुष शास्त्र रचना करते हैं तो उनके चित्तमें बात क्या रहती है, कौनसी प्रेरणा उनके चित्तमें उत्पन्न होती है जिससे प्रेरित होकर वे शास्त्र रचना किया करते हैं। इन ही विचारोंको इन ५ श्लोकोंमें आचार्यदेव रख रहे हैं।

अयं जागर्ति मोक्षाय वेत्ति विद्यां भ्रमं त्यजेत्।
 आदत्ते समसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः ॥२०॥
 न हि केनाप्युपायेन जन्मजातङ्गसम्भवा।
 विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्यति ॥२१॥
 तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रदर्शितः।
 जगज्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा ॥२२॥

अनुद्विग्नैस्तथाप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयोः।
कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति ॥२३॥
निरूप्य सच्च कोऽप्युच्चैरुपदेशोऽस्य दीयते।
येनादत्ते परां शुद्धिं तथा त्यजित दुर्मतिम् ॥२४॥

स्वतत्त्वकी अभिमुखतामें जागरण—जब यह आत्मा स्वतत्त्वके अभिमुख होता है तब यह समताके साम्राज्य पर अधिकार पा लेता है और उस समय यह जीव मोक्षकेलिये जागृत होता है। जब तक मुक्त अवस्थामें होने वाले आनन्दका किसी भी अंशमें अनुभव नहीं होता है, उसकी बानगी नहीं मालूम पड़ती तब तक उस मुक्तिके लिये कोई उद्यम कैसे कर सकता है? किसी व्यापारीको कोई सौदा खरीदना है तो उसकी बानगी देख कर यह निर्णय कर लेता है कि हाँ इस सौदेको ग्रहण करूँगा इसी प्रकार मुक्त अवस्था में क्या आनन्द होता है? उसका अनुभव उसकी जातिका पता पड़े तो मुक्ति पानेका कुछ उद्यम करे। भले ही मुक्तिमें अनन्त आनन्द है, लेकिन उस जातिका आनन्द सम्यग्दृष्टिको जाता है तो वह मुक्तिके लिये अपनी एक धुन बनाया करता है।

ज्ञानीके प्रभुताके निर्णयकी अनुभूति—जैसे कोई गरीब आदमी किसी प्रसिद्ध मिठाई की दुकानसे आधा छटांक ही मिठाई लेकर खाये और कोई धनी सेठ उसी मिठाईको उसी दुकानसे आधा सेर लेकर खाये तो स्वाद तो यद्यपि दोनोंको एकसा मिला, पर एकने छककर खाया और एक छककर न खा सका। यहाँ हम आप जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे मुक्त जीवोंकी तरह छककर आनन्द नहीं पा सकते, कारण कि अभी रागद्वेष लगे हुए हैं, फिर भी मुक्त अवस्थामें जित जातिका आनन्द होता है उस जातिके आनन्दका अनुभव लिया जा सकता है। जो पुरुष इस सारभूत पदार्थके अभिमुख होता है वह मोक्षके लिये जागृत रहता है और वह उस आनन्दको प्राप्त करता है, ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लेता है। सारे भ्रमोंसे मुक्ति हो जाती है और समतारूपी वैभवको प्राप्त कर लेता है।

स्वभाव और वर्तमान परिस्थिति—यह विचार कर रहा है वह सत्पुरुष कि आत्मस्वरूप तो आनन्दघन है, किन्तु हो क्या रहा है कि जन्मसे उत्पन्न होने वाले आतंकोंसे यह जीव विषयोंमें महान तृष्णाको उत्पन्न कर लेता है। उस तृष्णाकी शान्ति यह किसी भी उपायसे नहीं कर पा रहा है। यहाँ दो बातें मुकाबलेकी सामने आयीं। ग्रन्थ कर्ताके चित्तमें यह बात आयी कि इस आत्मतत्त्वके अभिमुख हो तो सारा मार्ग स्पष्ट हो जाता है, मुक्तिकी अभिलाषा जगती है, ज्ञानस्वरूपका अनुभव होता है, भ्रम का वहाँ नाम भी नहीं रहता है और समताके साम्राज्यको भी भोगने लगता है। बात तो सही होती है। करना तो जीवोंको यह चाहिये, किन्तु बात और कुछ चल रही है, जन्मसंसरणसे उत्पन्न यह तृष्णा होती है।

जीवोंका विपरीत उद्यम—भैया! जगत्के जीवोंमें और किस बातका संकट है सिवाय एक तृष्णाके? दूसरी कोई बात संकटकी हो तो बतलावो। किसीके संकटकी कहानी सुन लो, यही नजर आयेगा कि इसके तृष्णा उत्पन्न हुई है। धनकी तृष्णा, ज्ञान की तृष्णा, इज्जतकी तृष्णा। अनेक

प्रकारकी तृष्णायें हैं उनका ही एकमात्र दुःख है। यह दुःख जीवोंको किसी उपायसे मिट नहीं पा रहा है। सभी जीव इसही दुःखसे पीड़ित होकर उस दुःखसे बचनेका यत्न कर रहे हैं, पर उसीमें और भी विकट फँसते जाते हैं; जैसे मक्खी कफपर बैठ जाय तो ज्यों-ज्यों वह हाथ-पैर फटफटा कर उससे निकलनेका यत्न करती है त्यों-त्यों वह और भी उसमें फँसती जाती है अथवा किसी कीचड़ वाली जगहमें फँसा हुआ हाथी अथवा भैंसा ज्यों-ज्यों उससे निकलनेका उद्यम करता है त्यों-त्यों वह उसमें विकट फँसता जाता है। इसी प्रकार ये संसारके प्राणी तृष्णा कर करके उसमें दुःखी होते जाते हैं और ज्यों-ज्यों उस दुःखसे छूटनेका उद्यम करते हैं त्यों-त्यों उसमें और फँसते जाते हैं। दुःखकी वेदना और भी बढ़ती जाती है।

मोहका उत्तरोत्तर फँसाव—खुद पर बीती हुई बातोंके लिये अधिक उपदेशकी जरूरत नहीं रहती है ये सब बातें जानते हैं। सभी यह सोच सकेंगे कि अब से तो २० वर्ष पहिले २५ वर्ष पहिले मेरी जो स्थिति थी वह अच्छी थी। बुद्धि चलती थी, शरीरमें बल था, धर्ममें चित्त चलता था, विरक्ति भी थी। जितनी चिन्ताएँ अब सता रही हैं उतनी चिन्ताएँ तब न थीं। हमारी तो पहिलेकी स्थिति अच्छी थी। तो बात क्या हुई? अरे ज्यों-ज्यों उस दुःखको मेटनेका उद्यम किया त्यों-त्यों और भी उस दुःखमें फँसते गये, दुःख और भी बढ़ता गया। यह जीव किसी भी उपायसे तब तृष्णाके दुःखको शमन नहीं कर पा रहा है। तब उस महातृष्णाकी शान्तिकेलिये जगतके प्राणियोंके उपकारकेलिये विवेकी पुरुषोंने यह निर्णय किया है, सत्य बातका उपदेश दिया, चित्तमें बात समाई और इससे जीवोंको शान्ति भी मिली।

ज्ञानपद्धतिका प्रभाव—जैसे लोग कहा करते हैं कि भैंस बड़ी कि अकल, ऐसे ही समझ लो कि यह परिश्रम बड़ा कि ज्ञान। अपने दुःखकी शान्तिके लिये सांसारिक बल का प्रयोग करके हम आप बहुत बड़ी मेहनत किया करते हैं, पर उस मेहनत से शान्तिका कारण नहीं बन पाता और ज्ञान बना तो वह ज्ञान शान्तिका कारण बनता है। ज्ञान पद्धतिका ही तो महत्व है, किसी प्रकारकी वेदना हो, इष्टका वियोग हो। अब जो गुजर गया वह तो गुजर गया। कितना ही उद्यम करें वह लौटकर नहीं आता, लेकिन उससे मोह अब भी ऐसा रख रहे हैं तभी तो वेदना उत्पन्न हो रही है। यह बात पूर्ण निर्णयसे नहीं समा पाती कि जो गुजर गया वह लौटकर नहीं आता; जैसे खुली आंखोंसे ऐसा स्वप्न देखता है कि अमुक इस गलीसे रोज आया करता है। हमें ऐसा लगता है कि वह अब आने वाला है। चित्तमें कैसी वासना बसी है कि इतनी सी मोटी बातका भी पूरा दृढ़ निर्णय नहीं है। यही तो एक अंधकार है।

मोहमें भवकी अनित्यताका अनिर्णय—ये मोही प्राणी जैसा दुनियाको मरते हुए देखते हैं वैसा अपने बारेमें पूरी तरहसे निर्णय नहीं कर पाते कि किसी दिन मुझे भी नियमसे मर जाना है। कह लिया मुंहसे और अंदाज कर लिया, मगर जिसे अनुभव कहते हैं, ऐसा होना निश्चित ही है। इतनी दृढ़तापूर्वक अपने मरणकी बात यह जीव नहीं सोच पाता है। सोच ले तो उसकी चर्यामें अन्तर आ

जायेगा। लेकिन अन्तर नहीं आ रहा है। वहीका वही मोह वही सब राग बना है। यही इसका सबूत है कि हमें अपने बारेमें अपने मरने तकका भी दृढ़ निश्चय नहीं है; जैसे जब एकदम मरणहार होता है वहाँ यह विदित हो जाता है कि बस एक दो घंटेमें ही खत्म होने वाले हैं उस समय जैसा इसका दिल बदल जाता है, भीतरकी चर्यायें बदल जाती हैं ऐसी झनक होती नहीं इस जीवको।

वेदनामें अन्तर करने वाला ज्ञान—यहाँ कहा जा रहा है कि जितने दुःख होते हैं उन दुःखोंकी शान्ति ज्ञानसे होती है। जब इष्टवियोगका दुःख हो, तब ज्ञान जगे, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, भिन्न है, जो जो हैं वे अपनेमें अपना-अपना परिणमन करते हैं, उनका परिणमन उनमें है, उनका परिणमन उनसे बाहर किसी अन्यमें नहीं है। ऐसा स्वतंत्रता का ज्ञान जगे तो इसकी उस वेदनामें कमी हो जायेगी। कोई आफत आने लगी धन लुट गया अथवा कोई नुकसान हो गया तो वह इस साधारण हानिमें भी दुःखी होता है और जब इससे भी कई गुना जमींदारी नुकसान हुआ, कानून बना और जमींदारी सबकी गयी, उस समय कोई दुःखी नहीं हुआ, क्योंकि ज्ञानमें यह था कि मेरा ही तो नहीं जा रहा है, यह तो सभीका जा रहा है। कुछ धैर्य था। तो अब उसका भी १०-२० गुना नष्ट हो रहा है फिर भी एक प्रकारका ऐसा ज्ञान बना है कि दुःखी नहीं होने देता, और यहाँ थोड़ासा भी नष्ट हो जाता तो दुःखी होते हैं। तो मुख्य अन्तर ज्ञानका ही रहा। उन वेदनाओंसे छूटनेका मुख्य उपाय ज्ञान है। इस जातिका ज्ञान बनायें कि यह दुःख दूर हो, इस ओर अधिक यत्न करना चाहिये। परपदार्थोंसे संग्रह विग्रह करनेकी अपेक्षा इस ओर दृष्टि देनी चाहिये।

हितोद्यम—ये जगत प्राणीके इस तृष्णाकी वेदनाको किसी अन्य उपायसे शान्त नहीं कर पाते हैं। इन वेदनाओंकी शान्तिका उपाय केवल एक ज्ञान है। इसका उपयोग सही बातोंमें समा जाये तो सारे क्लेश दूर हो जायेंगे ऐसे ग्रन्थकर्ता अपने चित्तमें विचार कर रहे हैं, देखिये यह भी एक धर्म ध्यान है, इसमें भी सोपकार साथ-साथ चल रहा है। इस रचयिताकी भावनामें इसका विरोध नहीं है कि मैं अपना कुछ न करूँ। वह अपना कर रहा है, जगतके प्राणियोंके हितकी भावना करनेमें यह अपना भी काम कर रहा है। विषयकषायोंके आक्रमणसे बचा हुआ है और शुद्धतत्त्वकी दृष्टिकी पात्रता भी बन रही है। इन आचार्योंने यही एक प्रतिकार समझा तो पूज्य पुरुष तो प्रतिकार करते हैं और ये मोही प्राणी उस प्रतिकारकी भी अवज्ञा करते हैं।

ऋषि-संतोंका उपकार व हमारा प्रमाद—देखिये ग्रन्थमें क्या-क्या रत्न भरे पड़े हैं। कोई एक मर्म विदित हो तो उसकी इतनी प्रसन्नता होती है कि मानों कुछ पा लिया। किसी भी तत्त्वके सम्बन्धमें गूढ़ मर्मकी सही बात विदित होने की प्रसन्नता हुआ करती है और उसमें बहुत-बहुत विस्तृत मर्म विदित हुआ करता है। कितनी तपस्याके बाद, कितने अनुभवके बाद आचार्यदेवने हम पर करुणा करके इस ग्रन्थकी रचना की और हम आप ऐसे प्रमादी बने हैं कि ग्रन्थके मर्मको जाननेके लिये इच्छा भी न करें, यत्न भी न करें। उस ज्ञानके लिये यत्न करना सो तो है अपने हितकी बात और इस ओर दृष्टि न देकर बाहरी कार्योंमें चित्त लगाना यह तो कोई विवेकपूर्ण बात नहीं है। अब आप अपना

हिसाब लगा लें कि आप अपने तन, मन, धन, वचन सभीका उपयोग कितना तो अपने हितकेलिये करते हैं और कितना खाने, पीनेमें यश लूटने और परिजनोंके खुश रखनेमें लगाते हैं इसका आप खुद अंदाज कर लो। और ज्ञानकी बात सीखें समझें। इसके लिये कितना व्यय करते हैं? आप खुद सोच लो। जबकि सभीका मुख्य काम यह है कि जो मोक्षका मार्ग है, जो शान्तिके लिये काम देगा, इसकी ओर आपके तन, मन, वचन, धन का पूर्ण सदुपयोग होना चाहिये।

ऋषि-संतोंकी हितैषिता—ध्यान तो दीजिये, ये जगतके प्राणी आचार्यदेवकी इस कृपा का भी अनादर करते हैं। यह है जगतके जन्तुवोंकी स्थिति। फिर भी उद्वेगरहित पूज्य पुरुषोंने इन प्राणियोंके लिये मोक्षके सम्बन्धमें उपदेश दिया है। जैसे मां रोगी बच्चेको दवा पिलाना चाहती है। वह बच्चा बार-बार हाथसे मुंह दबा लेता अथवा मांका हाथ पकड़कर ढकेलता अथवा उलट-पुलट कर पेटकी जगह सिर कर लेता। अब वह मां कैसे उसे दवा पिलाये, कभी-कभी वह मां उसके दो-चार हाथ भी मार देती है, लेकिन मां फिर भी उस बच्चेको दवा पिलाती ही है। ऐसे ही ये आचार्यदेव मांकी तरह कितने कृपालु हैं? ये उपदेश देते हैं, लेकिन लोग इनका अनादर करते हैं और उनकी आस्था नहीं रखते हैं, फिर भी ये आचार्यजन अपने कर्तव्यसे नहीं चूकते हैं और बराबर अपना कर्तव्य निभाये जाते हैं।

भूलसे कुपथ पर दौड़—आचार्यदेवके इन सब श्रमोंका प्रयोजन इतना ही है कि ये जगतके प्राणी विरक्ति और ज्ञानको बनावें। विरक्ति न बनाई रागीके रागी ही बने रहे तो उससे कुछ पूरा नहीं पड़नेका है। अपनी-अपनी बात विचारो। अच्छा करते जाइये खूब राग चित्त भर, अन्तमें रागके फलमें आखिर मिलेगा क्या? शान्ति तो मिलती नहीं है। जिन पदार्थोंका राग किया जा रहा है वे पदार्थ भी रहेंगे नहीं और सदा मेरे अनुकूल वे रहें, यह बात भी नहीं बन सकती। रागमें किस ओरसे लाभ लूट लिया जाएगा। कुछ बात तो मालूम पड़े, या यों ही जिसको जैसा देखा वह उसी तरफ को दौड़ने लगा।

भूलकी विह्वलता पर एक दृष्टान्त—किसी बच्चेको एक आदमीने कह दिया आगे एक कौवा उड़ रहा था ऐसा उस बच्चेसे कह दिया, देख तेरा कान कौवा ले गया, लो वह रोता है और उस कौवेके पीछे भागता है, दौड़ लगाता है। भले आदमी कहते हैं अरे क्यों चिल्लाता है, क्यों भागा जा रहा है? अरे रे रे मत बोलो मेरा कान कौवा ले गया। अरे कहाँ ले गया, लगे तो हैं कान। अरे मुझे तो ताऊने कहा था। अरे ठहर। अपने कान टटोलकर देख तो ले, न मिलें अगर तेरे कान तो कहना। ज्यों ही रुककर उसने अपने कान टटोले तो कान कहीं गये ही न थे। उसे कान मिल गये तो निर्णय हो गया, ओह मेरे कान तो कौवा नहीं ले गया।

भूलकी विह्वलता—ऐसे ही ये जगत्के जीव, यह विषयलोलुपी पुरुषोंका समूह अज्ञानी पुरुषों द्वारा बहका दिया गया है, अरे तेरा सुख अमुक परपदार्थ से है। चेतन परिग्रहोंमें अथवा अचेतन परिग्रहोंमें तेरा सुख है, तो इन जीवोंने सुखकी आशासे आरम्भ परिग्रहकी ओर दौड़ लगाना शुरू कर दिया है। दौड़ लगा रहे हैं। ज्ञानी संत समझते हैं, अरे तुम कहाँ दौड़ रहे हो? अरे मत बोलो, हमारा सुख घरमें है, धन वैभवमें है, मैं अपना सुख प्राप्त करने जा रहा हूँ। आचार्य समझाते हैं अरे नहीं

है वहाँ सुख। कैसे नहीं है सुख? देखो हमारे फलाने रिश्तेदारोंने और लोगोंने इन पड़ौसियोंने प्रेक्टिकल कर करके समझाया है कि सुख इनमें है। अरे ठहर भाई, क्षणिक विश्राम तो कर, अपने आप की ओर दृष्टि तो दे। पहिले अपने आपको टटोल तो सही सुख स्वरूप क्या है? तू क्या है? तू कितना है? कितना आया था, कितना जायेगा? उस निज सुख स्वरूपको तो देखो। तेरा स्वरूप किन चीजोंसे बना हुआ है, तेरा लक्षण क्या है? कुछ इस ओर दृष्टि तो दे, कुछ तेरा झुकाव अपने शांतस्वरूपकी ओर हो तो तुझे अपने इस शांतस्वरूपका पता पड़ेगा ओह! मैं सारे जगतसे न्यारा केवल निजस्वरूप मात्र हूँ, मैं एक चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं आनन्द और ज्ञानसे भरपूर हूँ। ध्यानमें आया अब। व्यर्थ ही जगतके प्राणी आचार्योंकी वाणीमें अवहेलना करते हैं। यदि वे श्रद्धा करेंगे और यथाशक्ति गुणोंको अमल करेंगे तो उन्हें सन्तोष और शान्ति मिलेगी।

भूलकी वेदनाकी दयनीयता—यह विचार ग्रन्थ रचयिताके चित्तमें उठा था और इसी कारण अन्तमें कुछ सुगम उपदेश विचार कर हमें इन जगतके प्राणियोंको देना चाहिये, ऐसा भाव किया। कोई अपनी ही भूलसे दुःखी हो रहा हो तो उसके प्रति कितनी दया लोगों को आती है? कुछ लगाना नहीं, कुछ पराधीनता नहीं। केवल एक दृष्टि विचार बनाने भर की जरूरत है कि सारे दुःख दूर हो जायेंगे। तो ये जगतके सब प्राणी भी भूलसे दुःखी हो रहे हैं; जैसे बन्दर किसी घड़ेमें रक्खे हुए लड्डू उठानेके लिये दोनों हाथ घड़ेमें डाल देता है। तृष्णावश दोनों मुट्टियोंमें लड्डू भर लेता है तो अब दोनों हाथ तो निकलते नहीं, वह समझता है कि मेरे दोनों हाथोंको घड़ेने पकड़ लिया है सो वह उस घड़ेको लिये हुए इधर-उधर लुढ़काता रहता है और दुःखी होता रहता है। यों ही ये जगतके प्राणी इस दुःखसे निकलना चाहते हैं पर तृष्णा साथ लगी है सो इस ओर ख्याल नहीं जाता कि इस दुःखसे छूटनेका ढंग यह है और हमें ऐसा-ऐसा करना चाहिये।

संतोंके उपदेशका लाभ उठानेका अनुरोध—अहो! तृष्णाके कारण मोही प्राणी दुःख भी बहुत-बहुत भोग रहे हैं पर यह ख्याल नहीं जाता कि मैं अपने आप ही अपने विचार परविषयक बनाकर, परोपयोगी बनाकर अपने आपको दुःखी कर रहा हूँ, संत पुरुष ऐसे भूले भटके हुए प्राणियोंको केवल एक सच्चा ज्ञान दिखानेके लिये उपदेशका उद्यम करते हैं। सत्पुरुष इस प्रकार विचारकर जीवोंके संसार सम्बंधी दुःखको दूर करनेके लिये ऐसा उपदेश देते हैं अर्थात् शास्त्रोंकी रचना करते हैं। हमारा कर्तव्य है कि जो निधि बड़ी तपस्याके बाद, बड़े अनुभवके बाद आचार्योंने ग्रन्थोंमें दिया है, उसकी अधिकसे अधिक जानकारी करें और उस उपायसे हम अपनेको संसार संकटोंसे सदा छूटानेके लिये पुरुषार्थ कर लें।

अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्वयविशुद्धिदे।

ज्ञानशास्त्रे सुधीः कः स्वमसच्छास्त्रैर्विडः बयेत् ॥२५॥

असत् शास्त्रोंसे विडम्बित न होनेका संदेश—एक तो जीवोंके कल्याणकी बुद्धि नहीं जगती और कदाचित् कल्याणकी बुद्धि जग भी जाय तो यहाँ एक बड़ी विपदा यह है कि धर्मके नाम पर

अनेक मजहब, गुरु अनेक प्रकारके मिलते हैं और उनमें भी लोग अपने आपको सबसे उत्तम कहा करते हैं। ऐसी स्थितिमें कल्याणार्थी किस ओर झुकें, एक यह समस्या सामने आती है, किन्तु जिसमें वास्तवमें हितकी भावना जगी है वह पुरुष इस जातिकी कितनी भी समस्याएँ सामने हों, फिर भी अपने आपको पथका निश्चय कर लेता है, क्योंकि यह ज्ञानस्वरूप तो है ही, इसी कारण जिसमें शान्ति मिले और जिसमें न मिले, ऐसी बातोंका बोध करनेमें उसे विलम्ब नहीं लगता।

हितनिर्णयकी आत्मनिर्भरता—कोई पुरुष यदि ऐसा संदिग्ध होकर कि जब सभी अपनी-अपनी बात कहा करता है कि मुझे न किसीकी बात पर चलना है और जिस काल में जिस जातिमें हम उत्पन्न हुए हैं न उनकी कही हुई बात पर चलना है। मैं सबकी बात भूलकर अपने आप सत्यका आग्रह करके निष्पक्ष भावसे लो यह बैठा हूँ विश्रामसे, जो सत्पथ होगा, जो प्रभुता होगी वह स्वयं व्यक्त हो तो मुझे मान्य है यहाँ वहाँ की कहना, उस पर चलना हमें अभीष्ट नहीं है। ऐसा निर्णय करके सब ओरसे विकल्प त्याग कर, सब मान्यताओंको भूलकर विश्रामसे बैठ तो जायें। कल्याणार्थी पुरुषमें अपने आप ही सहज अपने आपमें से वे बातें उत्पन्न होने लगेंगी। जिस अनुभव से आत्माका उद्धार होता है, जो उपादेय बातें हैं वे अपने आपमें वह प्राप्त करता है।

वास्तविक ज्ञान और शास्त्र—भैया वास्तविक तो वही ज्ञान है, जिसमें मेरी शरण प्राप्त हो, वही ज्ञान शास्त्र है ऐसे इस लोकमें व परलोकमें विशुद्धि देने वाले ज्ञानशास्त्रके होते हुए भी ऐसा कौन सुधी है जो अपने आपको असत्से, खोटे शास्त्रोंसे अपनी विडम्बना कराये। सभी लोग कहते हैं कि दोष बुरे होते हैं, गुण अच्छे होते हैं। अपने आपमें निरखो तब विदित हो जायगा कि रागद्वेष मोह अज्ञान ये सभी दोष कहलाते हैं। निष्पक्ष केवल ज्ञानप्रकाश रहना, यह गुण कहलाता है। जिस विधिसे दोष दूर हों और गुणोंका विकास हो, उसका उपाय जहाँ बताया गया हो वह सत् शास्त्र है। आचार्यदेव यहाँ यह खेद प्रकट कर रहे हैं कि सत् शास्त्रोंके होते हुये भी असत् शास्त्रोंसे अपनी विडम्बना बना रहे हैं, यह एक खेदकी बात है।

आवश्यक शिक्षा—हमें यह शिक्षा लेनी है कि हमें तो अपने आपमें शान्ति पानेके लिये ज्ञानदृष्टिकी आवश्यकता है और शरीरकी स्थितिके लिये कुछ भोजनकी आवश्यकता है, इन दो के अतिरिक्त तो सब उदण्डताएँ हैं। तो जैसे भोजन आवश्यक समझ रहे हैं उससे भी अधिक आवश्यक ज्ञानदृष्टिका बनाना है। जो पुरुष ज्ञानी हैं, ज्ञानदृष्टि करके सहज आनन्दका अनुभव किया करते हैं वे क्रमशः निकट कालमें ही भूखके कारणभूत इस शरीरसे भी विमुक्त हो जायेंगे, तो यह दुःख तो अपने आप दूर हो जायेगा। सदाके लिये संकटोंसे छूटना है तो यह भोजन दृष्टि काम न करेगी, किन्तु ज्ञानदृष्टि काम करेगी। इस व्यवहारसे इन शरीरादिकसे अधिक ज्ञानभावना है। ज्ञानदृष्टि है ऐसा अपने आपमें दृढ़ निर्णय बना लेना चाहिये, ये समागमोंमें आये हुए कोई लोग, साथ न देंगे। अपने आपका जितना ज्ञानप्रकाश बना है बस वही साथी होगा ये १० दिन दसलाक्षणीके जैसे व्यवहारमें मानते चले आये ये प्रतिवर्ष आते हैं, इन दिनोंमें हम अपना नवीन-नवीन उत्साह जगायें, कितनी शान्ति

मिली, कितना ज्ञानप्रकाश हुआ, कितना हम परपदार्थोंसे विरक्त होकर निज तत्त्वमें लगे ये सब देखनेके ये दिन हैं। हमारा कर्तव्य है कि ज्ञानार्जनमें अधिकाधिक लगा करें और ऐसी भावना बनायें जिससे जगतकी सर्व वस्तुयें असार दिखें, सुहितकी भावना जगे, संसारसे उपेक्षा उत्पन्न हो, यही धर्मपालन है।

असच्छास्त्रप्रणेतार प्रज्ञालवमदोद्धताः ।

सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवञ्चकाः ॥२६॥

स्वपरवञ्चकों द्वारा असत् शास्त्रका प्रणयन—जैसे लोकव्यवहारके कामोंमें विषयोंके अभिलाषी पुरुष दंभी ठगिया बहुतसे जीवनमें मिला करते हैं ऐसे ही परमार्थपथ पर चलने वाले इस यात्रीको ऐसे ठगिया भी मिला करते हैं जो छोटे शास्त्रोंकी रचनावाले हैं, जो थोड़ी बुद्धि पा लेनेके कारण मदसे उद्धत हो गये हैं ऐसे अपने आपको और दूसरों को ठगने वाले भी इस पृथ्वीकी पीठ पर अनेक हैं। निष्पक्ष हो तो कुछ निर्णय किया जा सकता है कि यह बात हितकी है और यह बात अहितकी है, जैसे सभी लोग यह निर्णय करने लगते हैं कि यह अन्याय है और यह अन्याय नहीं है। यह पाप है अथवा यह पाप नहीं है। कुत्ते तक तो इस बातको समझते हैं। कोई कुत्ता किसीके चौकेसे चोरीसे दो-चार रोटी लेकर भगे तो वह दूसरोंकी आँख छुपाकर पूँछ दबाकर कहीं एकान्तमें जाकर खाता है, दूसरे कुत्तेको देखकर वह कायरतापूर्वक भागता है और किसी कुत्तेको आप स्वयं रोटी खिलायें तो वह प्रसन्न होकर, पूँछ हिलाकर खाता है। तो उन कुत्तोंके भी यह बात बसी है कि यह चोरीका काम है, यह पापका काम है। कौन नहीं जानता कि यह हित की बात है और यह अहितकी बात है? हाँ अज्ञानका उदय है, मिथ्यातत्त्वका रंग चढ़ा है तो नहीं समझ सकते। इस पृथ्वीतलमें थोड़ी-सी बुद्धि पाकर मदोन्मत्त हुए छोटे शास्त्रोंसे रचने वाले अनेक कविजन हैं वे केवल अपने आत्माका और भले जीवोंका ठगनेका ही काम करते हैं, खुद डूबते और दूसरोंको भी डुबाते हैं।

देवशास्त्र गुरुके निर्णयकी आवश्यकता—सर्वप्रथम धर्मपालनके लिये यह निर्णय होना जरूरी है कि सच्चेदेव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु कौन कहलाते हैं? क्योंकि किसी भी कार्यमें देव, शास्त्र, गुरुका सहारा लिये बिना सफलता नहीं मिलती है। कुछ भी कार्य ले लो। मानो किसीको संगीत सीखना है तो उसकी दृष्टिमें यह बात बनी हुई है कि मुझे ऐसा बनना है, तो दुनियामें जिसका भी नाम सुन रक्खा हो, चाहे कभी देखा हो या न देखा हो, बुद्धिमें यह बात आती है कि मुझे ऐसा बनना है तो यह तो हुआ उस संगीत शिक्षार्थीका देव और देवोंसे तो व्यवहार निभता नहीं है, तब अपने ही ग्राममें मोहल्लेमें जो सिखाने वाले उस्ताद हैं उनसे यह सीखता है, वे हुये संगीतगुरु और जिन पुस्तकोंमें संगीतकी विधि लिखी हुई है, मंद तेज बोलने के चिह्न दिये हैं वे हैं संगीतके शास्त्र। संगीत सीखने वाला उस पुस्तकको भी देखता है और उसमें जैसा लिखा है सा रे गा मा इत्यादि उसमें अंगुली धरता जाता है, फिर और कठिनसे कठिन चिह्नोंको क्रमशः सीखता जाता है। उस सीखने में जिन-जिन पुस्तकोंका सहारा लिया जा रहा है वे संगीतके शास्त्र। कौनसा काम ऐसा है जिसमें इन तीनोंके बिना

सफलता मिली हो? न कहीं पुस्तकें हों तो जो वचन बोले जायें वे ही शास्त्र हुये। यदि धर्मके मार्गमें हम आगे बढ़ना चाहें तो धर्मके देव, धर्मके शास्त्र और धर्मके गुरु इन तीनका शरण आवश्यक हो जाता है। तो यह निर्णय करना बहुत आवश्यक है कि सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु कैसे होंगे?

देवत्वनिर्णय—यह आत्मा मलिन कर्मबद्ध देहमें फँसा हुआ, जन्म मरणके चक्रमें पड़ा हुआ हितार्थी बनकर यह चाहता है कि इन सब बन्धनोंसे मैं कैसे छूटूँ, मेरा यह काम करनेको पड़ा है कि मैं इन उपाधियोंके बन्धनसे कैसे छूटूँ, जब जो छूटा हुआ हो वह हमारा आदर्श बन जाता है, मुझे इस प्रकार छूटा हुआ बनना है, जो बंधनोंसे छूटा हुआ हो, निर्दोष हो और सर्वज्ञ, गुणसम्पन्न हो यही हुआ हमारा देव। हमें नामका पक्ष नहीं रखना है। २४ तीर्थकरोंके नाम अथवा अन्य मोक्षगामियोंके नाम हम व्यवहारमें इस कारण लिया करते हैं कि जिस भवका नाम लोगोंने यह रक्खा हो उस भवमें अवस्थित आत्माने अपना उद्धार किया, इतने मात्र सम्बन्धके कारण नाम लेकर स्तवन किया जाता है, पर जो नाम है वह भगवान नहीं, जो भगवान है उसका नाम नहीं। एक चितस्वरूप अखण्ड शुद्ध निर्दोष रागरहित ज्ञानप्रकाश ऐसा ज्ञानपुंज ही देव है उसपर दृष्टि देना है कि मुझे यों बनना है। जब तक हम यों नहीं बन सकेंगे तब तक हमारा उद्धार नहीं है, फिर उस देवसे तो व्यवहार कभी चलता नहीं, जीवनकी चर्या उस देवसे हमारी निभती नहीं, तब हम क्या करें? जो आसपास निकट क्षेत्रमें कहीं इस कार्यके सफल कुशल गुरु मिलें तो उनसे उनके संगमें रहकर हम इस पथके गमनकी शिक्षा लें और उस पथमें चलनेका यत्न करें।

गुरुत्वनिर्णय—जो निर्दोष होनेके यत्नमें लग रहे हैं वे गुरु हैं जो विषयोंकी आशासे रहित हैं, निरारम्भ निर्ग्रन्थ है और ज्ञानध्यान तपस्यासे ही जिनका प्रयोजन है ऐसे तपस्वी दिगम्बर साधु हमारे गुरु हैं। कभी ऐसे गुरु न मिलें तो ये जो निर्दोष प्रतिपादन करने वाले शास्त्र हैं इन शास्त्रोंके पद-पदमें वाक्य-वाक्यमें गुरु बसे हुए हैं। दर्शक इन शास्त्रोंके वचनोंमें गुरुका भी दर्शन कर रहा है। जिन आचार्योंने शास्त्र बनाया उन गुरुओं का स्मरण रहता है और अपनी इच्छाके माफिक उनकी कुछ न कुछ शकल भी उपयोगमें रखता है। चाहे उन आचार्योंकी कभी फोटो भी न देखी हो। कुन्दकुन्दाचार्य आदिक देवों का जब नाम लेते हैं तो उनकी कुछ न कुछ मुद्रा भी हमारे सामने झलकती है, ऐसे ही समंतभद्र अकलंक इत्यादि जिनके भी चारित्र सुनते हैं उनकी मुद्राका कुछ न कुछ स्मरण हो जाता है। तो इन शास्त्रोंके अध्ययनकालमें हमें यों गुरुके भी दर्शन होते रहते हैं। और फिर जो भी मिलें बड़े गुरु, छोटे गुरु, सधर्मोजन सम्यग्दृष्टिजन उनमें अपना संग बनायें।

सत् शास्त्र—शास्त्र वही है जिनमें वीतरागताकी विधि लिखी हो, निष्पक्ष हो। देखो सर्वज्ञदेवके शासनमें यह उपदेश आया है कि है कल्याणार्थी जनो, यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने स्वरूपमें मग्न होओ, उन्हें यह नहीं पड़ी थी कि भक्तोंको उपदेश दें कि मेरी शरण आवो उनका तो उपदेश है कि तुम अपने स्वरूपको देखो और उसमें ही मग्न होओ ऐसी निरपेक्षता बतायी है। बस

स्वरूपदृष्टिसे ही स्वयं शुद्ध आनन्द पा लगे।

तत्त्वभक्तिमें ही लाभ—मोहसे बढ़कर कुछ विपदा नहीं है। और अज्ञानीजनोंको यह मोह ही सस्ता लग रहा है। ज्ञान और वैराग्यकी बात तो बड़ी ही कठिन लग रही है और मोह करनेकी बात सुगम लग रही है। निर्मोहताकी बात मनमें भी नहीं आती है। कदाचित् धर्म भी करें तो मोहप्राप्तिकेलिये करेंगे, कल्याण तो निर्मोह होनेमें है। जब होनहार अच्छा हो तब करियेगा। सच्चेदेव, सच्चे शास्त्र सच्चे गुरुका निर्णय करके अपनी भावनामें अपने ज्ञानपथमें उनकी उपासना करिये, प्रभुभक्तिसे बहुत बड़ी सिद्धि होगी और कुटुम्ब भक्तिसे, वैभव भक्तिसे कुछ सिद्धि न होगी। यह वैभव भी प्रभुभक्तिसे पाये हुए पुण्यका फल है। यों ही जीवोंको जैसे चाहे अटपट ढंगसे मिल जाता हो ऐसी बात नहीं है, हमारी दृष्टि ज्ञानकी ओर जगे और उत्तम शास्त्रोंके बनाने वाले गुरुवोंके प्रति भक्ति जगे यह एक अपनी सावधानीका कर्तव्य है।

स्वतत्त्वविमुखैर्मूढैः

कीर्तिमात्रानुरञ्जितैः।

कुशास्त्रछद्मना लोको वराको व्याकुलीकृतः ॥२७॥

कुशास्त्रके प्रणयनका हेतु मनोरञ्जन—जिन्होंने खोटे शास्त्र बनाये हैं उनका आशय क्या हो सकता है? यह भी अधिक सम्भव है कि कुछ जानते भी हो कि यह बात धर्ममार्ग में फबती नहीं है, सम्यक् नहीं है फिर भी उस बात पर डटे रहें, उसका पोषण करते रहें तो ऐसा करनेमें क्या-क्या कारण हो सकते हैं? तात्कालिक ऐसा वातावरण होगा जिससे इसके खिलाफ चलें तो कीर्ति नहीं मिल सकती। स्वतत्त्वविमुख मोही जनोंने केवल कीर्ति की इच्छासे ऐसी जानकारीका असत् शास्त्र बनाया है और कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं कि जिन्हें स्वतत्त्वका बोध नहीं है, मुग्ध हैं, ऐसे लोगोंने खोटे शास्त्रोंके छद्मसे इस लोकको व्याकुल बना दिया है। यह लोक तो स्वयं दीन था, कायर था, विषयाभिलाषी था और फिर विषयोंका भगवत् चारित्र बता बताकर उसमें फँसानेका उपदेश दिया है तो उस ग्रन्थरचयिताओं ने हम लोगोंको ठगा ही तो है।

धर्मकी पराधीनताका निषेध—खुद-खुदमें मग्न होकर सुखी हुआ करते हैं, यह बात बताने वाले बिरले ही हुआ करते हैं, यदि धर्म ऐसा है कि दूसरोंकी दया पर होता है, दूसरोंकी शरणमें बने रहनेसे मिलता है तो ऐसे धर्मकी यों आवश्यकता नहीं है कि कदाचित् दूसरोंको दयासे थोड़ी दूरकी सुख मिल जाय, किन्तु वह दूसरा फिर विमुख हो जाय तो हमें तो वहीका वही दुःख रहेगा, ऐसी धर्मकी जरूरत नहीं है, जो धर्म दूसरोंकी दया पर आधारित हो, जो दूसरा हमें सुखी करे शान्त करे तो हम सुखी शान्त हो सकें ऐसा नहीं होता है। खुदका उपयोग स्वच्छ चाहिये। खुद-खुदके उपयोगमें मग्न होकर अपने आपको निर्विकल्प बना लेगा, ऐसी विधिसे ही सन्तोष और शान्ति बन सकती है, सिर्फ हिम्मत करनेकी जरूरत है। अरे किसी दिन तो यह सारा समागम छूट ही जायेगा। श्रद्धामें ऐसी हिम्मत क्यों नहीं लाते?

सम्यक् विश्वास ज्ञान आचरणसे सन्मार्गकी प्राप्ति—सर्वविषयोंसे न्यारा चैतन्यस्वरूपमात्र

मैं आत्मतत्त्व हूँ। इस विशुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान ज्ञान और इसका आचरण यह संकटोंसे छुटानेका एकमात्र मार्ग है। विश्वास ज्ञान और आचरणके बिना किसी कार्यमें सफलता मिली है क्या किसीको? जो कोई व्यापार करता है उसका व्यापारमें विश्वास है, व्यापारकी विधियोंका ज्ञान है और उन विधियोंको करने लगता है तब तो व्यापारमें सफलता मिलती है, कोई भी कार्य हो उसमें विश्वास होना, उसका ज्ञान होना और उसका यत्न करना इन तीन बातोंसे उस कार्यमें सफलता मिलती है। हमें चाहिये शान्ति, तो शान्ति मुझमें आ सकती है, शान्ति मेरा स्वभाव है, ऐसा इस अंतस्तत्त्वका विश्वास होना चाहिये, और इस ही तत्त्वका स्वरूपका विधिसे स्पष्ट बोध भी होना चाहिये। फिर ऐसा ही उपयोग बनाकर रहें, ऐसी ही ज्ञानवृत्ति बनायें तो शान्ति क्यों न मिलेगी? मिथ्याविश्वास, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरणमें जब यह विडम्बना बना ली है तो सम्यक्विश्वास, ज्ञान और आचरणसे मुक्ति क्यों न हो सकेगी?

आत्महितमें प्रमादका अकर्त्तव्य—इस जीवने व्यामोहवश एक अज्ञानभाव बना लिया है, इस देहादिकको दृष्टिमें रखकर ऐसी कल्पना करली है कि यह मैं हूँ। इस कल्पनाके फलमें कितना विवाद खड़ा हो गया? शरीरमें फंसा, रागद्वेषोंका चक्र लगा, अपने आपमें यह शान्ति न पा सका तो मिथ्या विश्वास, मिथ्याज्ञान और मिथ्या भावनारूप आचरण इसने यह संसारकी विडम्बनाकी स्थिति बना दी है। अब जिस उपायसे खोटी बातें बन गई हैं उसके विरुद्ध उपाय करने लगें तो खोटी बातोंसे मुक्त हो सकेंगे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी एकता, यही है मुक्तिका उपाय और इस मार्गमें सच्चेदेव, सच्चेशास्त्र और सच्चे गुरुकी उपासना रखना यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। हमें अपनी शक्ति माफिक जो करने योग्य बात है उसके करनेमें प्रमाद न करना चाहिये तब हम उसमें सिद्धि पा सकते हैं।

अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञानैः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम्।

यैर्मन क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागर ॥२८॥

कुशास्त्रोंसे प्रयोजनकी असिद्धि—उन शास्त्रोंके पढ़ने, सुनने, जाननेसे क्या प्रयोजन है जिनसे जीवोंका मन इस दुरंत मोहसमुद्रमें शीघ्र ही पड़ जाता है। राग भरी बातोंको सुननेमें यह मन बहुत लग जाता है। जब कभी गप्प सभा लग जाय तो चाहे रातके १२ बज जायें पर उस गप्पगोष्ठीको छोड़नेको मन नहीं करता। जो उपदेश इन रागद्वेष वासना वाले जीवोंको रागकी ओर प्रेरित करे वह उपदेश इस मोहीको प्रिय लगता है, किन्तु फल क्या निकलता है कि इस दुरंत संसारसागरमें उसे पड़ा रहना पड़ता है।

अपूर्व अवसरके दुरुपयोग पर खेद—देखिये इतना सुन्दर सुयोग है हम आप सबका कि छोटेसे लेकर बड़े ग्रन्थ तक देख लो सभी ग्रन्थ कल्याणकारी अन्तर्ज्ञ मार्गको बतानेवाले हैं और साथ ही हम आपका ऐसा शुद्ध वातावरण भी है कि परम्परासे इस धर्मकी बात संभाले हुए हैं, अब ऐसा सुयोगका अवसर पाकर दिलबहलावेमें ही समय गुजार दें तो यह तो हम आपकी अयोग्यताकी बात

है। बारह भावनाके दोहे ६-६ वर्षके बालक भी बड़े चावसे पढ़ते हैं उनमें भी वीतरागताकी बात है और ऊंचे अध्यात्मशास्त्र, सिद्धान्त, शास्त्र, दर्शनशास्त्र उनमें भी वीतरागताकी ओर ले जाने वाले सारे उपदेश हैं। ऐसे सुन्दर पवित्र वातावरणमें पलकर भी हम आप इस अमूल्य समयका दुरुपयोग करें तो यह खेदकी बात है।

मनोरंजनसे असिद्धि—जो संसारसागर से तिरा दे उस उपदेशके सुननेसे ही लाभ है। बाकी तो राग भरे उपदेश बड़े सुहावने लगते हैं। प्रभुको कुछ पकवान चढ़ाना और उसे फिर बड़ी विधिसे खाना यह एक रागकी विधि है। कोई गृहस्थ प्रभुका चारित्र गा-गाकर अपने मनको खुश करे तो ऐसे भजनोंमें कितना मन लगता है, लेकिन ये सब रागकी विधि है। धर्मके नाम पर, व्रत, संयमके नाम पर यह न खाया, चलो फलाहार किया, अच्छा मन रहा आयेगा। लो धर्मात्मा भी बन गये और शारीरिक श्रम कष्ट भी न करना पड़ा। तो रागकी विधियोंका जहाँ उपदेश हो वह उपदेश सुहावना तो लगता है किन्तु उसका परिणाम उत्तम नहीं है। ऐसे तो इस पाये हुए नर-जीवनको खो दिया समझिये।

नरजीवनका योग—सबको नर-जीवन दुर्लभतासे मिलता है। चाहे किसी भी देशका हो, किसी भी मजहबका हो नर-जीवन तो उसी ढंगका मिला है वैसे ही कर्मोंके उपशम क्षयोपशम सबको मिले हैं। यह अपने-अपने उपयोगकी बात है कि कौन किस दृष्टिमें रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है? जिस वृत्तिमें यह आत्मप्रभु प्रसन्न रह सकता है उस वृत्तिको न करके इससे मुंह चुराकर, उपयोग हटाकर नाना वृत्तियोंको करना, यह सब इस प्रभुके साथ धोखेका काम हो रहा है। उन उपदेशोंका, उन वचनोंका, उन शास्त्रोंका अध्ययन अहितकारी है जो इस जीवको इस संसारसागरमें डुबो दे।

भूमिकामें प्रकाश—इस ग्रन्थकी भूमिकामें वे सब बातें बतायी जा रही हैं जिनकी तैयारीसे इस ग्रन्थमें बड़े संकल्प और भावना सहित इसमें प्रवेश करें। जैसे पूजा करते समय पूजाकी भूमिकामें, प्रस्तावनामें कितनी बड़ी तैयारी भरी हुई है? कोई उस पर दृष्टि दें तो विदित हो जायेगा कि कितनी निर्मलता और कितना विकास, कितनी भावभासना पूजा करनेसे पहले पूजक कर सकता है? जो स्वस्तिवाचन पढ़ते हैं और उसमें भी जितनी तैयारी दिखाई जाती है उस पर दृष्टि दें। जब आप प्रभु ध्यानकी महिमा पढ़ते हैं, चाहे पवित्र हो, चाहे अपवित्र हो, कैसे ही बैठे हों, कैसी ही अवस्था हो, जो पुरुष इस परमेष्ठी स्वरूपका ध्यान करता है, परमात्माका स्मरण करता है वह पवित्र है, सव सर्वपापोंसे छूट जाता है। इस भावमें यह पूजक अपने आपमें कितनी प्रसन्नता व निर्मलता प्राप्त कर लेता है।

स्वस्तिवाचनमें विशुद्ध संकल्पका उदाहरण—अब जरा स्वस्तिवाचनमें चलिये। जब पूजक यह कहता है कि मैं तो शक्तिके अनुसार समस्त शुद्ध द्रव्योंको प्राप्त करके अपने भावों को शुद्ध करनेके लिये दृढ़ संकल्प वाला होता हूँ, और भी उसके अंतः प्रवेश करते हैं तो ऐसा लगता है कि पहिले तो नटखट बहुत किया, थाली सजाया, खड़ा हुआ, अब इस ही बीच मुझे ऐसा लगने लगा कि

ये नाना बातें तो की हैं मगर यह तो सब कुछ एक ही बात है और वह क्या? वह ज्ञानपुञ्ज वह प्रभुस्वरूप। लो ये मुझे कुछ नटखटसे जँचने लगे, पर प्रभुस्वरूपमें यह टिक नहीं सकता, सो फिर यह संकल्प बनाता है कि मैं सर्व प्रयत्न करके इस प्रज्वलित केवलज्ञान भावनामें केवलज्ञानी होकर केवल शुद्ध निर्दोष उस परम अंतस्तत्त्वका मैं अनुभव करूंगा, उसके लिए यह पूजक पूजामें खड़ा हुआ है।

ग्रन्थनिर्वाहकी सुगमता—जैसे सभाओंमें प्रस्ताव रखने योग्य प्रस्ताव पेश करनेसे पहिले भूमिकामें जितना अधिक कहना पड़ता है, उतना प्रस्तावमें कहनेको नहीं रहता। यद्यपि यहाँ कुछ अति नहीं है, फिर भी भूमिकामें वह सब तैयारी बतायी गई है कि जिससे इस ग्रन्थका निर्वाह रुचिपूर्वक पारित कर सकें।

**क्षणं कर्णामृतं सूते कार्यशून्यं सतामपि।
कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियाम् ॥२९॥**

कुशास्त्रकी बाह्यरम्यता—ये छोटे शास्त्र सुननेमें तो क्षणभरको कर्णमें अमृत जैसे वर्षा कर देते हैं क्योंकि वे पहिले तो अच्छे लगेंगे। जैसे कोई अहितकर वस्तु खाये तो पहिले तो वह अच्छी लगेगी, किन्तु बादमें वह अहितकर प्रतीत होगी। यों ही ये कुशास्त्र सुननेमें भले लगते हैं किन्तु इन कुवचनोंका फल बड़ा भयंकर है। एक सिद्धान्त है चारवाक्। उसमें सारी बातें सुननेमें तो बड़ी भली लगती हैं पर उन बातोंका परिणाम बड़ा भयंकर निकलता है। ये कुवचन कानोंसे सुननेमें तो बड़े प्रिय लगते हैं, कर्णमें अमृत जैसी वर्षा कर देते हैं पर सज्जन पुरुषोंके लिये वे वचन कार्यशून्य हैं। बहुतसे लोग क्या करते हैं कि कोई उपन्यास उठा लिया और उसे आदितसे अन्त तक बड़े चावसे पढ़ते हैं। अरे उन बातोंके पढ़ लेनेसे कौनसा लाभ लूट लिया जाता है? ये सब कुशास्त्र ही तो हैं। जिससे न आजीविकाका प्रयोजन सधे, न आत्मशान्तिकी कोई बात मिले, ऐसे कुवचनोंके कुशास्त्रोंके सुनने पढ़नेसे आत्माका कुछ भी लाभ न होगा। ये शब्द पहिलेतो अमृत जैसी वृष्टि करेंगे पर बादमें विष जैसा फल देते हैं। यहाँ यह बात बतायी जा रही है कि इस जीवको कैसी वासना बनी हुई है कि इसे खोटी बातें तो चित्तमें घर कर जाती हैं पर हितकी बातें चित्तमें घर नहीं कर पातीं।

**अज्ञानजनितश्चित्रं न विद्मः कोप्ययं ग्रहः।
उपदेशशतेनापि यः पुंसामपसर्पति ॥३०॥**

अज्ञानजनित ग्रह—अज्ञानसे उत्पन्न हुआ यह मोह पिशाच कितना भयंकर है? जिस जीवके अज्ञान उत्पन्न हुआ है उसे कोई सैकड़ों उपदेश भी दे, पर वह उससे दूर नहीं होता है। हम नहीं जानते हैं कि इसमें क्या भेद है, क्या राज है? खोटी युक्तियां तो चित्तमें प्रवेश कर जाती हैं पर उत्तम युक्तियां चित्तमें प्रवेश नहीं कर पातीं। इसका प्रयोग करके देख लो। कोई मांसभक्षण करता हो और उसके सामने धर्म करनेकी बातें रक्खो तो वे बातें उसके चित्तमें घर नहीं कर सकती हैं। कितनी ही कहावतें तो प्रसिद्ध हो गयी हैं कोई-कोई लोग तो कहते हैं कि 'जिन आलू भटा न खाया, वह काहेको

जग में आया।' तो कुछ ऐसी कुयुक्तियाँ हैं जिन का प्रवेश चित्तमें हो जाता है पर कोई उत्तम युक्तियाँ सुनावो तो उन युक्तियोंका प्रवेश चित्तमें नहीं हो पाता है। चूँकि मिथ्या आशय है इस कारण ऐसी बात उनमें पायी जाती है।

अज्ञानहठ—बालहठ बड़ी प्रसिद्ध हठ है। यह बालहठ अज्ञानके कारण होती है। जैसे कोई बालक हठ कर जाय कि मुझे तो हाथी चाहिये, किसी तरहसे उसके पिताने हाथी वालेसे कहकर अपने द्वारमें हथी खड़ा करवा दिया और पिताने कहा लो बेटा तुम्हें हाथी ले दिया, बालक कहता है कि इसे तो खरीद लो। लो उस हाथीको अपने घर के बाड़ेमें खड़ा करवा दिया और कहा कि लो इसे खरीद दिया। फिर वह बालक कहता है कि इसे तो हमारी जेब में धर दो। अब भला बतावो इस बातको कौन कर सकता है? ऐसे ही हठ इन अज्ञानी मोही जीवोंमें लगी हुई है। जरा-जरासी बातोंमें ये मोही अज्ञानी जीव हठकर जाते हैं। विषय कषाय, मोह, रागद्वेष ये सारीकी सारी बातें इस अज्ञानी हठीसे छोड़ी नहीं जा सकतीं। कुछ पढ़ते बांचते भी हैं और धर्मके लिये अपने भाव भी बनाते हैं पर इसकी कुटेव नहीं छूटती तो यह हठ नहीं है तो और क्या है?

भ्रमका भूत—इस अज्ञान अवस्थामें रहते हुए जिस किसी पुरुषको किसीके प्रति शक हो जाये, भ्रम हो जाय किसी भी प्रकारका तो वह कितनी ही सफाई की बातें पेश करे, किन्तु उसका भ्रम दूर हो जाना कठिन हो जाता है। जो बात एक बार चित्तमें समा गई वह बात चित्तसे निकलनी बड़ी कठिन पड़ जाती है। एक तो विरुद्ध आचरण हो, रागद्वेष का आचरण हो और फिर उसमें भ्रम लग जाय कि यह ही हमारे हित की चीज है तब रागद्वेष छूटना कितना कठिन है? किसीको उल्टी बात सुना दो और यह भी कह दो कि देखो बहुतसे लोग तुमसे उल्टी बात कहेंगे उनकी बात तुम न मानना तो उस भ्रममें पड़ जानेके कारण उसे बहुत बहुत दुःखी होना पड़ता है। ये दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय कर्म नाव खेने वाले की तरह है। चारित्र पालने वाला नाव खेता जा रहा है पर दर्शन मोहनीयकी अवस्था कर्णधारकी तरह है जो अपनी दृष्टि बदल दे तो नाव उल्टी दिशामें हो जाय। जैसे किसीको दिखता तो खूब हो पर सारा पीला ही पीला दिखता हो ऐसी ही बात यहाँ हो जाती है। दर्शनमोहनीय कर्णधार अपनी दिशा बदल दे अपनी दृष्टि बदल दे तो सारीकीसारी बातें उल्टी नजर आने लगती हैं। ये मोही अज्ञानी जीव सारीकी सारी अपनी उल्टी वृत्तियाँ बनाये हुए हैं। इन उल्टी वृत्तियोंसे इन्हें कुछ भी लाभ नहीं है, बल्कि सारीकीसारी हानियाँ हैं।

कषायोंमें बरबादी—जरा-जरासी बातोंमें ये अज्ञानी जीव क्रोध करने लगते हैं। अरे इस क्रोधसे कुछ भी तो सिद्धि नहीं होती है। शान्ति का दर्शन इस क्रोधभावके कारण नहीं हो पाता है। इस क्रोधभावको तो दूर करना ही पड़ेगा। बहुतसे लोग अपनी मान कषायको पुष्ट करनेके लिये अहंकार किया करते हैं, चाहे किसीका हित हो अथवा अहित इस पर दृष्टि उस अहंकारी जीवकी नहीं जाती, किन्तु इसी तरहसे मेरा मान होना चाहिये, ऐसी भावना उसकी रहा करती है। कपटी पुरुषका संग तो बड़े धोखेसे भरा हुआ है। मायाचारी पुरुषकी संगतिसे तो सदा धोखा ही रहा करता है, न जाने

कब मायाचार करके अहित कर दे। इस बातका तो अनुभव करके भी अपने जीवनमें देख लो। ऐसी ही बात लोभी पुरुषकी है, उसकी इस संगतिसे अपना अहित ही है।

अपना उत्तरदायित्व भैया! अपने इस अकिञ्चन् स्वरूपको देखो मेरा कहीं कुछ नहीं है। यह देह तक भी मेरा नहीं है तो अन्य कुछ भी मेरा होगा ही क्या? केवल जिन चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपको अनुभव करके देख लो। इस अनुभवमें कितनी शान्ति है। जिन प्रभुकी हम पूजा करते हैं उन्होंने भी यही काम किया था और समस्त कर्मोंका विनाश करके उन्होंने ऐसी उत्कृष्ट स्थिति पाई है। हे प्रभु! ऐसे भगवान मेरे चित्तमें बसो, ऐसी पूजककी भावना है। अरे अपनी जिम्मेदारी अपने आप पर है। अपनी जिम्मेदारीको निभायें। अपना जो अक्रिचनस्वरूप है उसकी ही भावनामें रत रहा करें, अन्य समस्त बातोंका परित्याग कर दें। इससे ही अपना हित है। एक वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान भर करना है। इसके लिये ऐसे सच्चे शास्त्रोंका अध्ययन करो जिससे अपने हितकी प्रेरणा मिले।

सम्यग् निरूप्य सद्वृत्तैर्विद्वद्भिर्वीतमत्सरैः।

अत्र मृग्या गुणा दोषा समाधाय मनः क्षणम् ॥३१॥

निष्पक्ष गुण दोषोंका विचार जो सज्जन पुरुष होते हैं, जिन्हें किसीसे मात्सर्य नहीं है वे अनुवाचि सम्यक् निरूपण, समाधान करके गुण और दोषोंका विचार किया करते हैं। आज भी आप यह परिच्छेदन कर सकते हैं कि जो लोग रूढ़िके वशीभूत हैं, गुण-दोषोंके विचारमें जिनकी बुद्धि नहीं चलती है वे आज भी धर्म के नाम पर सत्य धर्म क्या है, क्या नहीं है? इसकी प्रधानता न देकर जो कल्पनामें बात समाई है उसकी ही प्राप्ति किया करते हैं, जबकि आज के पढ़े-लिखे वैज्ञानिक, डॉक्टर्स और ऊँचे प्रिन्सिपल वगैरह की दृष्टिमें धर्मके नाम पर दर्शनके प्रसंगमें उनके चित्तमें उदारता बनी रहती है। वे किसी प्रकरणकी आलोचना करते हुए इतना भी ख्याल नहीं रखते हैं कि यह बात कहीं मेरे मजहबमें प्रतिकूल न हो जाय। जो उन्हें सच्चाईमें बात आती है उसे कह डालते हैं। आजके जमानेमें जो विद्वत्जन हैं, पढ़ी-लिखी समाज हैं वे इतने उदार हैं धर्म और ज्ञान प्रसंगमें कि जो सत्यके वे जिज्ञासु हैं और प्रसारण करनेके इच्छुक हैं। सत्पुरुष, जिनको किसीसे मात्सर्य नहीं है वे शास्त्रमें प्रवृत्तिमें गुण और दोषोंका भरपूर विचार करते हैं। ग्रन्थ की भूमिकामें वह सब वर्णन किया जा रहा है जो एक आवश्यक है आगेके वक्तव्यको सही समझानेके लिये।

स्वसिद्धयर्थं प्रवृत्तानां सतामपि च दुर्धियः।

द्वेषबुद्ध्या प्रवर्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः ॥३२॥

दुर्बुद्धियोंके द्वेषबुद्धिका प्रवर्तन इस लोकमें अनेक दुर्बुद्धिजन ऐसे भी हैं जो अपने मतलबकी सिद्धिके लिये सत्पुरुषोंसे भी द्वेष बुद्धिका व्यवहार करते हैं; अर्थात् दुष्ट जीव सत्पुरुषोंसे द्वेष रखते हैं। इस कथनसे हम यह शिक्षा लें, किसीके बहकायेसे हम कहीं दोषोंको ग्रहण न करें, किन्तु विवेक करें। द्वेषकी बात मिलती हो उपदेशमें शास्त्रोंमें तो वहाँ हम उसका विरोध करें। प्रायः आज यही तो हो रहा है समाज में। जो किसी दूसरे से वात्सल्य रखता है तो यहाँ भी वह सही ज्ञान

रख रहा है इस नातेसे वात्सल्य नहीं करता, किन्तु वे जिस मंतव्यकी प्राप्ति करना चाहते हों उस मंतव्यके ध्येयके ये सहायक हैं, उनमें हमारे विकल्पके माफिक भी प्रतीति है, इस नातेसे आज वात्सल्य चल रहा है, और इसी कारण आज इस सम्प्रदायमें अंतः कितना विरोध है, कितनी खाइयाँ हैं? यह सब कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञान रखने वाले और अखबारोंसे समाचार जानने वाले समझते हैं, वही धर्मके प्रसंगमें रीति-रिवाज चल गया है जो रिवाजमें अथवा पार्टियोंमें चला करता है। तो है क्या? यह एक समयका दोष है या किसका दोष कहें?

स्वहित भावनाके अभावमें धर्मके नाम पर पक्ष—जब तक चित्तमें ईमानदारीसे आत्म हितकी प्रेरणा नहीं होती है तब तक सारी विडम्बनाएँ होती हैं। इस अशरण संसारमें हमें क्या गाड़ जाना है? कौनसा कीर्ति स्तम्भ गाड़ जाना है। किसके लिये इतना धर्म के नाम पर पार्टियाँ करके इस धर्मकी जड़को खोखला करनेका प्रयत्न किया जा रहा है? बात तो असलमें यह है कि स्वहितकी जब तक तीव्र भावना नहीं जगती है तब तक अनेक विडम्बनायें चलती हैं। यह एक जैन भारत पर व्यापक दृष्टि देकर कहा जा रहा है, इसी कारण यह अशक्त समाज बनता चला जा रहा है।

शुद्ध पथके आलम्बनका संकल्प—इस श्लोकमें शुभचन्द्राचार्य कहते हैं कि दुष्ट पुरुष सत्पुरुषोंसे द्वेष रखा करते हैं। पर कुछ हो, इस ज्ञान और धर्मके प्रसंगमें भी ईमानदारी न त्यागनी चाहिये। यद्यपि आज यह कठिन अवस्था हो गयी है कि कोई पढ़ा-लिखा पुरुष यदि किसी पार्टीमें शामिल नहीं होता है तो उसकी सभी पार्टी वाले उपेक्षा अथवा दुर्दशा करनेका यत्न करते हैं। लेकिन यह भी एक शुद्ध पथका आलम्बन है कि जो स्याद्वादसे अनेकान्तको समझा है पर उस दृढ़ रहना और परवाह न करना, वहाँ काहे की पार्टी है? यह तो एक धर्मका पथ है, ज्ञानपथ है, मोक्षपथ है, उस पर हमें चलना है, कर्मोंके बन्धनसे अनेक प्रकारके बातोंसे त्रस्त हुए हम यहाँ कुछ सजाकर विषय सुखोंकी बात बतायें तो वह ज्ञानियोंको अवाञ्छनीय है।

साक्षाद्द्वस्तुविचारेवु निकषग्रावसन्निभाः।

विभजन्ति गुणान् दोषान् धन्याः स्वच्छेन चेतसा ॥३३॥

यथार्थज्ञोंका धन्यघोष—वे पुरुष धन्य हैं जो अपने निष्पक्ष चित्तसे वस्तुके विचारमें कसौटीके समान हैं और गुण दोषोंको भिन्न-भिन्न जान लेते हैं। देखिये जैन शास्त्रोंके निष्पक्ष प्रेमी ज्ञानी पुरुषोंके ज्ञानमें इतनी उदारता रहती है कि वे निश्चय पक्षके सिद्धांत और व्यवहार पक्षके सिद्धान्त दोनोंकी यथार्थता अपने ज्ञानमें स्थान निरखते हैं। क्या यह बात सही नहीं है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें पूरा है और अपने आपके सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंसे अत्यन्त जुदा है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनसे अपना परिणमन करता है, यह बात सही है ना? सही है। तब क्या बात सही नहीं है कि कोई पदार्थ अपने स्वभावके विरुद्ध कुछ परिणमन करे तो वह किसी पर-उपाधिका निमित्त पाकर ही अपना विभाग परिणमन कर पाता, यह भी तो सही है। इस जगतकी दृष्टिमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होने पर भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें स्वतन्त्र होकर परिणमता है। इसी तरह कहा कि प्रत्येक पदार्थ

अपने स्वरूपका ही स्वामी होनेसे अपने आपमें अकेला परिणमन करता है, तो भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंधीकी बात भी यथार्थ है और वे परपदार्थ पर-उपाधिका निमित्त पाकर उस प्रकारका विभाव परिणमन करते हैं। दोनों बातें यथार्थ हैं, और दोनों यथार्थ होकर भी किसी वस्तुको किसी परवस्तुकी आधीनता न समझना, स्वतंत्रता समझना यह एक ज्ञानशूरताका काम है।

समक्ष घटनाओंमें भी तत्त्वदर्शन भैया! हजारों घटनायें सामने तो आती हैं। महिलायें रसोई बनाती हैं, आटा सानकर बेलकर तवे पर डाल दिया, सिक गई, रोटी बन गई। क्या यह बात सही नहीं है कि यह रोटी, यह आटा अपने आपमें ही सिकी और रोटी बनी? क्या किसी महिलाके हाथ ने रोटी रूप परिणमन कर इस रोटीको सेंका या अपनी परिणति उस रोटीको दी? वह महिला भिन्न है, सिकी हुई वह रोटी भिन्न है। हाथ अपने आपमें है, रोटी अपने आपमें है। महिलाने उस रोटीको नहीं सेंका, वह रोटी तो अपने आपमें ही सिकी। यह बात ठीक है ना? तो क्या यह ठीक नहीं है कि उस महिलाका प्रयत्न और निमित्त पाये बिना उस रोटीमें यह बात नहीं बन सकती थी? निमित्त पाकर ऐसी स्थिति बनी, यह भी तो सही है, और दोनों बातें यथार्थ होकर उसमें भी यह निरखते रहें कि हाथका परिणमन हाथमें है, रोटीका परिणमन रोटीमें है, दोनों स्वतंत्र पदार्थ अपने आपमें अपने आपके अधिकारी हैं, यह बात दीख रही है ना, यही है ज्ञान शूरताका काम। एक नहीं पचासों घटनायें ले लो, व्यामोहका कहाँ स्थान है?

विवेक कसौटी वे पुरुष धन्य हैं जो अपने निष्पक्ष चित्तसे वस्तुके विचारमें कसौटी के समान हैं। जैसे स्वर्ण कसनेकी कसौटी होती है वह कसौटी मालिकके पास है। मालिक उसे बड़े अच्छे ढंगसे रखता है लेकिन वह कसौटी दगा नहीं देती। वह कसौटी मालिक का पक्ष नहीं करती कि सोना ग्राहकको देते समय सोनेको कसौटीसे कसा जाये तो अपनी यथार्थतासे अधिक अपना गुण बता दे, अथवा किसी ग्राहकका सोना ले और कसौटीसे कसे तो यथार्थसे हीन गुणकी बात वह कसौटी दिखा दे। कसौटीका, न मालिकका पक्ष है, न ग्राहकका पक्ष है, वह तो यथार्थ अपना वर्ण दिखा देगा। ऐसे ही जो सत्पुरुष हैं, ज्ञानी हैं, विरक्त हैं, निष्पक्ष हैं वे तो कसौटीके समान हैं। वे गुण और दोषोंका बराबर यथार्थ विचार कर लेते हैं। भिन्न-भिन्न जान लेते हैं कि यह गुण है और यह दोष है।

प्रसादयति शीतांशुः पीडयत्यंशुमान् जगत्।

निसर्गजनिता मन्ये गुणदोषाः शरीरिणाम् ॥३४॥

गुणग्रहिता व दोषग्रहिता आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा अलंकारमें कहते हैं कि देखो चंद्रमा जगतको प्रसन्न करता है और संतापको नष्ट करता है और सूर्य पीड़ित करता है अर्थात् तापको उत्पन्न करता है। जैसे यह दोनों बातें इन दोनोंमें स्वभावसे हैं इसी प्रकार जीवोंके गुण-दोष स्वभावसे हुआ करते हैं ऐसा मैं मानता हूँ। जिसकी जैसी योग्यता है वह अपनी ही योग्यताके अनुसार वही बाहरमें निरखेगा। जिसे दूसरोंके गुण ग्रहण करने की प्रकृति पड़ी हुई है वह अपनी उस योग्यताके अनुसार सर्वत्र गुणोंको देखेगा और जिस के दूसरेके दोषोंको देखनेकी प्रकृति आ गई है वह सर्वत्र

दोषोंको देखेगा, इसमें दोष क्या है, यह एक स्वभावकी बात है। पढ़े-लिखोंमें भी दोनों प्रकारके स्वभाववाले लोग पाये जाते हैं।

दोषग्रहणमें अलाभ—यहाँ शिक्षा लीजिये कि इसमें महत्वकी बात, गुणोंकी बात, अनोखी बात, हितकारी बात क्या निकलती है उसे परखनेके लिये अपने आपको तैयार बनाये रहना है। पढ़े-लिखे लोग कुछ ऐसे भी होते हैं और सामर्थ्य भी उनमें ही हो सकती है। ऐसी कि किसी उपदेशमें दोष ढूँढ निकालें कि आखिर इसमें दोष क्या है, इसमें खोटी बात क्या है, कहाँ चूक हुई है? उसके ही निरखनेमें बुद्धि सदा तैयार बनी रहती है। ऐसे ही बिना पढ़े-लिखे भी दोनों प्रकारकी प्रकृति वाले जीव पाये जाते हैं। कोई गुण देखनेका भाव रखते हैं और कोई दूसरेके दोष देखनेका भाव रखते हैं, किन्तु यह तो विचारों कि अपनेको अपना हित करना है ना? तो गुणी पुरुषोंके गुण विचारना अच्छा है न कि दोष विचारना अच्छा है।

प्रकृतिका उद्घाटन—जिसमें जैसी प्रकृति है, बहुत उपाय कर लेनेके बावजूद भी वह अपनी प्रकृतिसे ही प्रभाव पैदा करता है। एक सेठके तीन लड़के थे, पर वे तीनों लड़के तोतले थे। पहिले समयमें खवास पर ढूँढने जाया करता था। सो सेठके तीनों लड़कोंके देखनेके लिये खवास गया। सेठने तीनों लड़कोंको खूब सजा दिया था और समझा दिया था कि देखो जब खवास देखने आये तो तुम लोग चुप रहना। खवास जब उन लड़कोंको देखने पहुँचा तो उसे वे लड़के बड़े सुन्दर जँचे। उसने उनकी थोड़ी प्रशंसा कर दी। प्रशंसा सुनकर एक लड़के से न रहा गया, बोल ही दिया अले अभी टहन मंडन तो लडा ही नहीं है, नहीं तो बड़े टुंडर लडते। याने अभी चंदन वगैरह नहीं लगा है नहीं तो हम और भी सुन्दर लगते। तो दूसरा लड़का बोला डड्डाने कहा था, टुप रहना, याने चुप रहो ददाने कहा था कि बोलना नहीं, तीसरेने भी बोल दिया टुप-टुप। लो उनकी तो सारी पोल खुल गई। तो जिसमें जैसी योग्यता है उसके अनुसार ही उसमें परिणमन होगा।

गुण-दोषका विवेक—मूले से अभ्यास करनेका अर्थ यह है कि अपने आपकी आत्म भूमिको स्पष्ट यथार्थ बना लो। गुणग्राहिताकी बात मनमें आना चाहिये। दोषग्राहितासे अत्यन्त दूर रहें। हाँ हमें यदि दूसरोंके संगमें रहना है तो विचार यह करना पड़ेगा कि यह गुणी है अथवा दोषी है? वह इसलिये विचारना है कि कहीं धोखा न खा जायें, क्योंकि बिना ही प्रयोजन, कुछ वास्ता नहीं और दोष ग्रहण करनेकी एक आदतसी बनाये रहे तो वह निरन्तर अशान्त रहना पड़ेगा और स्वयंका उपयोग दोषमय बनाये बिना कोई दोषोंका ग्रहण भी नहीं कर सकता। उपयोगमें दोष आ गया।

दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम्।

विधुविम्बश्रियं कोकाः सुधारसमयीमिव ॥३५॥

दुराचारियों द्वारा अवर्णवाद—दुराचारी पुरुष दुष्टजन निर्दोषजनोंमें भी दोष लगाया करते हैं; जैसे यद्यपि चन्द्रमा सुधारसका स्थान है, उस चन्द्रबिम्बकी शोभा लोग बड़े चावसे निरखते हैं, वह संताप शान्त करने वाला है लेकिन उस चन्द्रबिम्बको चकवा दूषण दिया करता है कि इस चन्द्रमाने

हमारी चकवीका बिछोह कर दिया। देखिये कुछ ऐसा प्रसंग है निमित्तनैमित्तिक कि चकवा चकवी दिनमें तो साथ रहते हैं पर रात्रि होने पर उनका वियोग हो जाता है। न जाने क्या बुद्धि उनकी बन गई हो, हमने तो चकवा-चकवी देखा ही नहीं है। पर यह बात बड़ी प्रसिद्ध है, शास्त्रोंमें भी दृष्टांत रूपमें दी गई है। न जाने क्या बात हो जाती है कि रात्रिको जलमें रहने वाले चकवा चकवी दोनों का गमन विरुद्ध-विरुद्ध दिशाको हो जाता है। तो देखो चन्द्रमाकी सभी लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं लेकिन चकवा-चकवी मन-ही-मन उस चन्द्रमाको दूषण दे रहे हैं।

दुष्टोंके शिष्टोंके प्रति अनिष्टबुद्धि—अच्छा और भी देखिये, कोई साधु जा रहा हो, सामनेसे कोई शिकारी आ रहा हो तो शिकारी साधु को देखकर घृणा करता है, आज तो बड़ा असुगन हुआ, मुझे आज शिकार न मिलेगा। तो दुष्टजन निर्दोष पुरुषोंको भी दूषण देते हैं, निर्दोष वाणीको भी दूषण दिया करते हैं। किसीमें कोई दोष लगाना हो पचासों बहाने हैं। कोई कम बोलता हो, ज्यादा बोलना पसंद करता हो तो उसे यह कहा जा सकता है कि यह बड़ा घमंडी है, यह बोलता-चालता ही नहीं है, किसीसे मिलता-जुलता ही नहीं है, और यदि बहुत ज्यादा बोलता हो तो यह दोष लगाया जा सकता है कि यह बड़ा बकवादी पुरुष है, बोलता ही रहता है, कुछ धीरता नहीं, गम्भीरता नहीं। कम बोले तो लोग दोष लगाते, ज्यादा बोले तो लोग दोष लगाते, और मौन रहे तो लोग दोष लगाते। अब और क्या करें बतावो?

न्यायपथ पर चलन—देखिये, करना क्या चाहिये, तो सुनो! कोई कुछ कहे, दोष लगाये, बातको तो करने दो, तुमने क्या निर्णय किया है, शान्तिका पथ क्या है, तुम्हारा हित किसमें है? इसका निर्णय रहे और उसपर ही चलते रहो। सारा जहान कुछ भी कहे तो उससे क्या होगा? खुद ही जो जैसी करनी करेगा वैसा ही फल पावेगा। खुद ही अगर भले हैं तो भला फल मिलेगा, खुद ही अगर बुरे हैं तो बुरा ही फल मिलेगा। इसलिये आवश्यक कार्य यह करनेका है कि जो यथार्थ न्यायपथ है उस पथ पर चलें। ये सारे समागम मायाजाल हैं, विनश्वर हैं। विकल्पजालोंमें बढ़नेसे तो अपने आपको संक्लेशमय ही बनाया। विकल्प बनाना युक्त नहीं है। आचार्यदेव इस ग्रन्थकी भूमिकामें श्रोताजनोंकी ऐसी स्थिति बता रहे हैं, उन्हें उदार और विवेकशील बना रहे हैं ताकि वे आगेके वक्तव्यको निष्पक्षतासे है और अपने आत्महितकी दृष्टिसे सुनें और अपना कल्याण करें।

अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुद्धचति।

तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम् ॥३६॥

मोहकी बेहोशी—आत्मा एक शुद्ध स्वच्छ ज्ञानस्वरूप है। उसमें उपाधिवश रागद्वेष विकार विषयोंकी मलिनता आई है। यह मलिनता नष्ट हो तो आत्मा वही उज्ज्वलका उज्ज्वल है। इस मोहका कितना दुष्प्रभाव है कि अपनी ही बात है, अपना ही निधान ज्ञानानन्द अनन्त और वह अपने ही उपयोगमें उपभोगमें नहीं आता है, कितनी कठिन व्यवस्था है और जिस पर भी यह जीव उस थोड़ेसे वैभवको पार अज्ञानतासे ग्रस्त रहा करता है। उसे अपनी सुध नहीं होती है। स्वरूप तो प्रभुकी तरह निर्विकार और उज्ज्वल है पर दशा इसकी आज क्या हो रही है? इसका सही परिचय ज्ञानी पुरुष

किया करते हैं। अज्ञानीजन तो जैसी स्थितिमें हैं उसी स्थितिमें राजी रहा करते हैं।

निर्मोहताका कर्तव्य—सबसे महान् पाप महती मलिनता एक मिथ्यात्वकी है। मिथ्यात्वका अर्थ है जो बात जैसी नहीं है उसे उस रूप माना जाये। किसी भी पदार्थका किसी भी अन्य पदार्थसे कुछ नाता नहीं है। फिर भी किसीका किसीने मान लिया, यही है मिथ्याभाव। ऐसी श्रद्धा हो तो उसे मोह कहते हैं। श्रद्धा गृहस्थोंकी भी उतनी ही उज्ज्वल रहनी चाहिये जितनी की साधु संतोंके हुआ करती है। श्रद्धामें अन्तर न होना चाहिये। हाँ कुछ परिस्थितिवश आचरणमें अन्तर आया करता है पर श्रद्धामें अन्तर न आना चाहिये। साधु-संत आत्माको सबसे न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप मानें और गृहस्थजन कुछ और स्वरूप मानें, ऐसा अन्तर श्रद्धामें नहीं हुआ करता है। मिथ्यात्व कषायका मूल नष्ट हो तो स्वरूपका प्रकाश होता है।

मिथ्यात्वके प्रकार—मिथ्यात्व दो प्रकारके हैं, अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व तो जीवको बिना सिखाये प्रकृत्या हुआ करता है, जैसे शरीरको माना कि यह मैं हूँ, यह अगृहीत मिथ्यात्व है। अपना नाम, यश हो जानेसे अपना हित मानना यह अगृहीत मिथ्यात्व है, और जो सिखायेसे देखादेखी मिथ्यात्व लगे वह गृहीत मिथ्यात्व है; जैसे कुदेव, कुशासत्र, कुगुरुकी पूजा करना, यह गृहीत मिथ्यात्व है। जैसे कोई घरमें संकट आ गया; या कोई बीमार हो गया तो लोग सिखाते कि अमुक देवी देवताओं पर इस प्रकारकी भेंट चढ़ावो अमुकका ताबीज वगैरह बांधो, यों दर-दर भटक कर रागद्वेषी देवी-देवताओंकी पूजा मान्यता करना यह गृहीत मिथ्यात्व है। कुछ लोग कल्पना बनाते हैं कि किस-किस प्रकारकी भेंट देवी-देवताओंके नाम पर लोग किया करते हैं? उन्हें यह श्रद्धा नहीं है कि ये जीव हैं, सभी अपने-अपने कर्मोंसे उपजे हैं, उन कर्मोंके अनुसार सभी जीवोंको फल मिलेगा।

मौलिक कर्तव्य—ये परिजन घरमें आये हैं, ठीक है जो हमारा कर्तव्य है, वह कर्तव्य अपना करना ही चाहिये। नीतिपूर्वक व्यवस्था बनाकर अपना गुजार करे, पर यह रहता है तो ठीक है, जाता है तो ठीक है, प्रत्येक पदार्थमें जो परिणतियां हों उनके ज्ञातादृष्टा रह सकें, इतनी धीरता-गम्भीरता अपने आपमें आनी चाहिये। मोह मिथ्यात्व का प्रभाव है इस कारण यह पवित्र आत्मा इस मोह कलंकसे दूषित है। इस कलंकको नष्ट करनेका कोई उपाय अवश्य करना चाहिये। वह उपाय क्या है इसका ही वर्णन इस ज्ञानार्णव ग्रन्थमें बहुत-बहुत प्रकारसे आयेगा। करीब २००० श्लोकोंमें ज्ञानकी ही शिक्षा दी गई है।

विलोक्य भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशंकितम्।

अविद्याब्रजमुत्सृज्य धन्या ध्याने लयं गतः ॥३७॥

स्वरूपविवेक—इस भयानक कालरूपी सर्पोंसे भरे हुए संसारमें जो मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरणके स्वरूपको छोड़कर निज स्वरूपके ध्यानमें लवलीन हो जाता है वह महा भाग पुरुष धन्य है। चीज वही एक है पर जिसका जैसा उपादान है रागी रहनेका, विहरागी होनेका वह उससे वैसी

शिक्षा लेता है। एक कहावत बड़ी प्रसिद्ध है। कोई एक वेश्या गुजर गई। उसको जलानेके लिये लोग मरघट लिये जा रहे थे। तो एक कामी पुरुष उस मरी वेश्याके मृतक शरीरको देखकर सोचता है कि यदि कुछ और जीवित रहती तो मैं इससे और मिलता, और एक साधु पुरुष उस वेश्याके मृतक शरीरको देखकर चिन्तवन करता है कि ८४ लाख योनियोंमें भ्रमते-भ्रमते इसने दुर्लभ मनुष्यभव धारण किया था, किन्तु यों ही व्यर्थ खो दिया। वह मनमें खेद प्रकट करता है। मरघटमें स्याल वगैरह सोचते हैं कि ये मूर्ख लोग इसे बेकारमें जलाये दे रहे हैं। यदि इसे यों ही छोड़ देते तो महीने-दो महीनेका हमारा भोजन होता।

बुद्धचनुसारिणी वृत्ति भैया! और तो क्या, अपने-अपने जीवनकी बात निरख लो। आप लोग मंदिर आते हो तो मंदिरमें चीजें तो वही हैं, आने वाले लोग वही हैं, कोई किसी प्रसंगको निरखकर कुछ परिणाम करता है कोई कुछ परिणाम करता है, चीज वही है पर जैसा उपादान है वह अपनी योग्यताके माफिक अपना विचान बनाया करता है। तब जो ज्ञानी संत जो पुरुष हैं वे इस जगतको भयानक कालरूपी सर्पसे अंकित देखा करते हैं, क्या यह है जगत्? ये सब परिणमन सदा रहनेके नहीं हैं, शीघ्र ही विघट जायेंगे।

ज्ञानजागृतिमें संकटविनाश एक बुढ़िया थी, उसके एक इकलौता लड़का था और वह गुजर गया, तो आप समझो कि बुढ़ापेमें मात्र एक सहारा और वह भी गुजर गया तो कितना कष्ट होता है? वह बुढ़िया बहुत दुःखी हुई, वह रोती फिरे। एक साधु महाराज मिले, बुढ़ियाने कहा महाराज मेरा लड़का जीवित कर दीजिए। मैं बड़ी दुःखी हूँ। मेरा यह इकलौता लड़का है, कैसे मेरा जीवन कटेगा? तब साधुने कहा अच्छा तेरा लड़का जीवित हो सकता है किन्तु तुम्हें एक काम करना होगा। हाँ-हाँ महाराज जो कहोगे सो करूंगी। देख तू ऐसे १० घरोंसे सरसोंके दाने मांगकर ले आ, जो घर ऐसा हो जिए घरमें कभी कोई मरा न हो। वह बुढ़िया बड़ी खुश होकर सरसों मांगने गई। एक घरमें कहा मुझे एक पाव सरसोंके दाने दे दो, मेरा लड़का मर गया है वह जीवित हो जायेगा। तो देने वाला कहता है कि अगर इससे लड़की जीवित होता है तो एक पाव क्या ५ सेर ले जावो। तो बुढ़ियाने फिर पूछा कि अच्छा यह बतावो कि तुम्हारे घरमें कभी कोई मरा तो नहीं है? तो उसने गिना दिये सभी घरके मरे हुए लोगोंको जिनकी उसे सुध थी। तो बुढ़िया बोली कि हमें ऐसे दाने नहीं चाहियें। इसी प्रकार दसों घरोंमें देख डाला पर कोई ऐसा घर न मिला जिसमें कोई मरा न हो। यह हालत देखकर उसके ज्ञान जग गया, सोचा कि जो जन्मा है वह तो मरेगा ही नियमसे। लो उसका सारा दुःख मिट गया। साधुके पास प्रसन्न चित्त होकर पहुँची बुढ़िया। साधुने देखकर पूछा कहो बुढ़िया तेरा लड़का जीवित हो गया क्या? तो वह बुढ़िया बोली हाँ महाराज जीवित हो गया। वह मेरा लड़का है मेरा ज्ञान। मेरा ज्ञान प्रकट हो गया तो मैंने सब कुछ पा लिया।

आनन्दका विवेकानुगम देखिये लोग नाहक दुःखी होते हैं। दुःख है कहाँ, और सुख है कहाँ? कुछ बाहरी भोग समागम मिल गये तो कहाँ उनसे सुख और कहीं उनसे दुःख है। यह सुख-दुःख तो

अपने ज्ञान-अज्ञान पर निर्भर है। सही ज्ञान हो, विवेक जागृत हो तो उसे आनन्द ही आनन्द है और जिसके विरुद्ध ज्ञान है उसको अपने कुज्ञानके कारण दुःखी ही होना पड़ेगा। भेदविज्ञान करना बहुत जरूरी है, अपनेको ऐसा अनुभव करना है कि समस्त परवस्तुओंसे निराला केवल ज्ञानमात्र यह मैं हूँ। कहाँ सुख है, कहाँ दुःख है? कल्पनामें सुख और कल्पनामें दुःख है।

कल्पनासे अन्यत्र कुटुम्ब कहाँ एक पुरुष एक वर्षके लड़केको घरमें छोड़कर करीब हजार मील दूर व्यापार करने चला गया, व्यापार वहाँ अच्छा चल गया। तो अब यों समझिये कि १४ वर्ष गुजर गए, उसे घर आनेका मौका न मिला। अब मां कहती है अपने बेटेसे, बेटा चले जावो, तुम्हारे पिता अमुक स्थान पर रहते हैं, अमुक पता है, उन्हें जाकर लिवा लावो। वह लड़का चला अपने पिताजीको लिवाने और उधरसे वह पिता चला अपने घरके लिये। रास्तेमें किसी गाँवमें एक धर्मशाला पड़ती थी। दोनों ही एक धर्मशालामें पास-पासके कमरेमें ठहर गये। रात्रिको उस लड़केके पेट में बड़े जोरका दर्द हुआ, रोने लगा, चिल्लाने लगा। वह पुरुष मैनेजरसे कहता है कि इस लड़केको कहीं दूर कर दो, रात्रिके हम जगे हुए हैं, इसके रोनेसे हमें नींद नहीं आ रही है। मैनेजरने कहा कि रात्रिके १२ बज गये हैं, इसे कहाँ दूर कर दें? पर वह पुरुष बोला कि हमने तुम्हें १० रु० इसीलिये दिये हैं कि रात्रिभर आरामसे हम रहें। यदि तुम इसे दूर नहीं करते तो हम तुम्हारी शिकायत कर देंगे। दर्द बढ़ जानेके कारण उस लड़केका हार्ट फेल हो गया, मर गया। यद्यपि उस पुरुषके पास पेटदर्दकी दवा थी पर उस लड़के पर दवा न आई। उसके सामने ही मर गया।

कल्पनाका प्रभाव वह व्यापारी दूसरे अपने घर पहुँचा, स्त्री से पूछा बच्चा कहाँ है? स्त्रीने बताया कि बच्चेको तो आपके लिवानेके लिये भेजा है। लौट पड़ा वह बच्चेकी तलाश में। कई जगह धर्मशालाओंमें पता लगाया। पता लगाते-लगाते वहाँ पर भी पहुँचा जिस धर्मशालामें वह ठहरा था। पता लगाया तो रजिस्टरमें साफ ब्यौरा लिखा हुआ था कि अमुक नामका लड़का यहाँ ठहरा था। मैनेजरने उस पुरुषसे बताया कि वह लड़का यहाँ ठहरा था, अपने पिताजीको अमुक स्थान पर लिवाने जा रहा था, उसके पेटमें दर्द यहीं पर उत्पन्न हुआ। लो कुछ-कुछ उसे सुध हुई। पूछा फिर क्या हुआ? मैनेजरने बताया कि उस लड़केका यहीं पर हार्टफेल हो गया। इतनी बात सुनकर वह पुरुष बेहोश होकर गिर पड़ा। भला बतलावो तो सही कि जब लड़का सामने था तब तो एक आँसू न गिरा और जब लड़का सामने नहीं है तो बेहोश होकर गिर पड़ा, इसका क्या कारण है? अरे उसने यह ध्यान बनाया कि वह मेरा ही लड़का था, इस कारण उसे बेहोश होकर गिरना पड़ा। तो दुःखतो इस कुबुद्धिके कारण मिलता है। ज्ञानी संतपुरुष इस मायामय संसारको असार समझकर अपने आत्मतत्त्वके ध्यानमें लीन हो जाते हैं। वे महाभाग पुरुष धन्य हैं।

हृषीकराक्षसाक्रान्तस्मरशार्दूलचर्वितम् ।

दुःखार्णवगतं विश्वं विवेच्य विरतं बुधैः ॥३८॥

जीवपर इन्द्रिय राक्षसोंका आक्रमण जो बुद्धिमान हैं वे इस जगतको इन्द्रिय राक्षसोंसे भरा

हुआ, कामरूपी सिंहसे चबाया हुआ और दुःखरूपी समुद्रमें डूबा हुआ समझकर इस जगतको त्याग देते हैं। भला विचारो तो सही, जिस स्थानमें राक्षस रहते हों, सिंह आदिक क्रूर जानवर रहते हों उस स्थान पर विवेकी पुरुष रहना पसंद करेंगे क्या? किन राक्षसोंसे भरा हुआ यह जगत है? यह इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियज वासना। ये सारी इन्द्रियां इस जीवको परेशान कर रही हैं, खुदका जो पवित्र स्वरूप है उसका स्मरण ही नहीं हो पाता है, लेकिन इन इन्द्रिय विकारोंने, इन्द्रिय इच्छाओंने, इन्द्रिय राक्षसोंने इस जीवको सता डाला है और कामरूपी सिंहसे यह जगत चबाया जा रहा है। जैसे सिंह किसीको खा ले, ऐसे ही यह काम इस जगतको चबा डालता है।

कामकी घातकता—एक भजनमें लिखा है “है काम नाममें देव लगाया किसने, यह तो प्रधान उनमें हिंसक हैं जितने।” लोग कहते हैं ना कामदेव। काम नाम है विषयवासनाका, उसमें लगा दिया है देव। तो इस काममें देव नाम किसने लगाया है? यह काम तो जितने भी दुनियामें हिंसक हैं उन सबमें प्रधान है। हिंसकोंमें प्रधान लोग डीमर को या मछली पकड़ने वालोंको बताते हैं। जो जाल डालकर या अन्य तरहसे मछली पकड़ते हैं। मछली पकड़ने वाले लोग बहुतसे ऐसी हिंसक प्रकृतिके होते हैं कि जिन्दा मछलियोंको आगमें डालकर भून डालते हैं तो क्या यह कम हिंसा है? तो यह कामदेव भी, यह कामविकार भी इस जीव पर कितना अन्याय किये हुए हैं, सोचिये तो सही। यह कामविकार जिनशासनरूपी शान्त सुखद समुद्रसे इस जीवको निकालकर नाना प्रकार के विकल्पोंमें फंसाकर यह दुःख-संतापरूपी अग्निमें झोंक देता है, यह तो प्रधान हिंसक है, किन्तु यह जग कामरूपी सिंहसे चबाया गया है और दुःखरूपी समुद्रमें डूबा हुआ है, ऐसे इस जगतको असार समझकर बुद्धिमान पुरुष त्याग देते हैं।

पुराण पुरुषोंकी चर्या—देखो भैया! अपने पुराण पुरुषोंके इतिहास, महापुरुषोंने बहुत-बहुत राज्य किया, अन्तमें ज्ञान जगा, वैराग्य हुआ, बच्चोंको राजतिलक करके अथवा यों ही बिना किसीके संभलवाये इस जगतका त्याग किया और अपने इस सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मब्रह्ममें उन्होंने उपयोग लगाया। सब दृष्टिकी बात है। अच्छा यह तो बतावो कि सबसे मीठी चीज क्या लगती है? सभी अपने-अपने मनकी बात बतावो। तो कोई कुछ बतायेगा कुछ कुछ, पर योगीन्द्रोंको एक आत्मस्वरूपका प्रकाश पा लेनेमें आनन्द मिलता है। उसीको पाकर वे प्रसन्न रहा करते हैं। तो उन योगीश्वरोंको आत्मस्वरूपका ध्यान मीठा लगता है। इससे बढ़कर मधुर चीज इस जगतमें नहीं है। बहुतसे पुराणपुरुष ऐसे हुए जिन्होंने इस मधुर चीजको पाकर अजर अमर पद पाया और जिन्होंने भोगमें रहकर मरण किया उन्होंने निम्नपद पाया।

ग्रहणविवेक—अब सोच लीजिये किसी पुरुषके आगे एक तरफ तो खलके टुकड़े रख दें और एक तरफ हीरा रत्न जवाहिरात रखें और कहा जाय कि भाई इन दो में तुम जो चाहे सो उठा लो और वह उठा ले खलका टुकड़ा तो उसे कौन बुद्धिमान कहेगा? ऐसे ही आपके सामने २ चीजें पड़ी हुई हैं, एक ओर तो सारा संताप विषयवासनावोंका विकार और एक ओर रखा है आनन्दधाम,

प्रसन्नताका शुद्ध स्वच्छ स्वरूप। अब इन दोनों में से जिसकी भी यह जीव भावना करे, जिसको प्राप्त करनेकी दृष्टि करे उसको वह चीज प्राप्त हो सकती है। यह बात यथार्थ धुत्र है। इतने पर भी यह जगतका प्राणी मांग बैठे विकार, विपदा, विषयकषाय तो उसे कोई विवेकी कहेगा क्या? केवल ध्यानसे, केवल भावनासे यह संसारका क्लेश भी मिल सकता है और मोक्षका आनन्द भी मिल सकता है। कुछ निर्णय कर लो, क्या चाहिये? जो प्राप्त हो सकता है व भावसाध्य है। आत्मा तो और करता ही क्या है? सिवाय एक भावनाके मतलब यह है कि अपनी भावना विशुद्ध बनायें तो इस भावनाकी विशुद्धिसे सर्व कल्याण होगा। एक यही करनेका काम पड़ा हुआ है। दृष्टि सही बनायें, ज्ञान सही बनायें और इस सहजस्वरूपके रमणका ही यत्न करें, बस इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके प्रतापसे समस्त दुःख आपके दूर हो सकते हैं।

जन्मजातङ्गदुर्वारमहाव्यसनपोडितम् ।

जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः ॥३९॥

पीडित जगत् व आत्मसन्तोष संसारसे उत्पन्न होने वाले दुर्निवार आतंकरूपी महाकष्टसे पीडित इस जीव समूहको देखकर योगीपुरुष प्रशमको प्राप्त हो गये। अर्थात् जिन योगी ज्ञानी संतोंने अपने शरणभूत आत्मतत्त्वको पाया है उन्होंने जब इस जगतको दुःखों से व्याप्त देखा तो और अत्यन्त विरक्ति हुई, अपने आपके स्वरूपमें रुचि हुई कि वह अपने आपमें प्रशमभावको प्राप्त कर चुके। दूसरोंको देख-देखकर संसारी प्राणियोंमें भी ऐसी आदत है कि कुछ अपने आपके बारेमें हम सुखी हैं इस प्रकारकी पद्धतिसे कुछ साता प्राप्त करते हैं, अपनेसे विशेष दुःखी देखनेमें आजाय तो अपनी परिस्थितिमें उसे असन्तोष नहीं होता। जब यह विचार होता है कि यह तो और ज्यादा दुःखी है तब अपनेसे कम धनीको देखकर चित्तमें उसके तृष्णा नहीं उत्पन्न होती। अपनेसे अधिक धनीको देखकर तृष्णा उत्पन्न होती है।

सद्बोधका उपकार भैया! सम्यग्ज्ञानका बड़ा उपकार है, समस्त संकटोंको दूर करनेमें सम्यग्ज्ञान ही समर्थ है। तीन लोकका भी वैभव इस जगत्को शान्ति देनेमें समर्थ नहीं है। वैभव होकर भी जो पुरुष सुखी रहता है वह ज्ञानके माहात्म्य से दुःखी रहता है, वैभवके प्रतापसे सुखी नहीं होता। सुखी होनेका मार्ग तो सद्ग्रन्थोंमें बताया है, जो उस मार्ग पर चलता है वह उसका आनन्द लूट पाता है। कितनी सीधी व्यवस्था है। पंच अणुव्रतोंका धारण करना, प्रतिमारूप न सही, पर पंच अणुव्रतोंमें जो किया जाता है उसे करनेकी एक अपनी प्रकृति बना लें। श्रावकके ८ मूल गुणोंमें ५ अणुव्रत और ३ मकार का त्याग इस प्रकार ८ मूल गुण बताये हुये हैं। अणुव्रतोंके पालनमें अनेक संकट दूर हो जाते हैं।

श्रावकके त्रिविध मूल गुण श्रावकके मूलगुण ३ ढंगके हैं, पहिला ढंग तो यह है कि पांच तो पंच अणुव्रत और छठवां सातवां आठवां है मद्य, माँस, मधु इन तीनका त्याग करना अब दूसरे ढंगका मूलगुण सुनिये पंच उदम्बर फलोंका त्याग, एकमें ले लीजिये मद्य, माँस और मधुका त्याग तीन

ये हुये, रात्रि भोजन त्याग, जल छानकर पीना, जीवदया करना और नित्य देवदर्शन करना इस प्रकार ४ ये हुए। यों ८ मूलगुण हुए। फिर तीसरे दर्जेमें ५ उदम्बरका त्याग, इन्हें ५ मान लो और मद्य, मांस, मधुका त्याग यों ८ हो गए। तीन तरह के मूल गुण हुए। जब कहा जाय कि ८ मूलगुणोंको धारण करो तो जो हित को तीव्र अभिलाषा रखने वाले नहीं हैं वे इन तीन प्रकारके मूलगुणोंमेंसे जो सबसे सस्ता है उसे ढूँढ़ेंगे और वह सस्ता मूल गुण कौन है? ५ उदम्बर फलोंका त्याग और मद्य, मांस, मधुका त्याग। लेकिन यह समझनेकी बात है ये सस्ते मूलगुण उनके लिये बनाये गये हैं जिन बिरादरियोंमें नीचकर्म होते हैं। शिकार खेला जाता है, माँस भक्षणका रिवाज है उनके लिये यह तीसरे दर्जेका मूलगुण है कि तुम इतना ही पालन करो, अभी तुम इतना ही उठो। जो जन्मसे श्रावककुलमें आये हैं, जिनकी प्रवृत्ति और पद्धति प्रकृत्या बहुत कुछ भली है वे मूलगुणोंका पालन करें, नियम संयम करें तो प्राथमिक दोनों प्रकारों में से किसी प्रकारका शुरू करें।

पतनमें वृत्ति—यहाँ एक बात और समझनेकी है कि ऊँचे पुरुष जिन बिरादरियोंमें यह पद्धति है कि वे नीच कर्म न करें, उनमें यदि कोई नीचकर्म करता है, उसका यदि आचरण खोटा है तो वह तो उन लोगोंसे भी अधिक पतित हो जाता है जो नीच बिरादरीके लोग होते हैं। और यदि नीच बिरादरीका कोई अच्छे आचरणसे रहता है तो उसकी पवित्रतामें वृद्धि है। जैसे जिन बिरादरियोंमें माँस मदिरा वगैरहका पूर्ण त्याग है उनमें यदि कोई मदिराका ही प्रयोग करने लगे तो वह कितना बुरा माना जाता है? यह तो है लोकव्यवहारकी बात। अब व्यक्तिगत आत्माकी दृष्टिसे देखो तो अच्छे कुलका पैदा होने वाला पुरुष मदिराकी भी ओर प्रवृत्ति करे तो उसके परिणामोंमें अधिक गिरावट आती है और नीचे कुलका कोई पुरुष मांस, मदिरा वगैरहका भक्षी एक मदिराका भी त्याग कर दे तो इसमें उसकी कितनी पवित्रता बढ़ी हुई है? यह निकटकालमें मांसभक्षणका भी त्याग कर देगा।

उत्थान व पतनका एक सिंहावलोकन—करणानुयोगकी दृष्टिसे आपको एक उदाहरण बतायें। संयमासंयममें असंख्यात स्थान हैं। किसीका संयमासंयम घटिया दर्जेका, किसीका उनसे बढ़िया, किसीका उससे बढ़िया, इस तरह उसके संयमनमें, आचरणमें इतनी डिग्रियाँ हैं, इतने स्थान हैं, जिनके असंख्यात भेद हैं। संयमासंयम पशुपक्षियों और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें और मनुष्योंमें होता है। अब उन संयमासंयम स्थानोंमें जो जघन्य स्थान हैं, कुछ दूर तक वे जघन्य संयमासंयम मनुष्योंके तो हो जायेंगे, पर तिर्यञ्चोंके नहीं। तिर्यञ्चोंके इससे बहुत ऊँचे दर्जेका जघन्य संयमासंयम होगा।

मान लो संयमासंयमके स्थान ११ डिग्रीसे लेकर एक लाख डिग्री तकके हैं, इनमें से ११ डिग्री से लेकर ७५ डिग्री तकके संयमासंयम स्थान मनुष्योंके तो हो जायेंगे, पर तिर्यञ्चोंके मान लो ७५ से ऊपरके होंगे। अर्थात् तिर्यञ्चोंका जघन्य संयमासंयम मनुष्यों के जघन्य संयमासंयमसे बहुत ऊँचा है। यद्यपि उत्तम संयमासंयम मनुष्योंके ही होगा और जैसा उत्कृष्ट संयमासंयम मान लो कि ६० हजारसे ऊपर एक लाख तकके हैं तो तिर्यञ्चोंके नहीं होगा। मनुष्योंके ही उत्कृष्ट संयमासंयम होगा।

यह बात विशेष है, पर जघन्यकी बात सोच लीजिये। तिर्यचका जघन्य व्रत मनुष्योंके जघन्य व्रतसे अधिक पवित्र है। यह भी इस बातका समर्थन करता है कि बड़े पुरुष गिरे तो ज्यादा गिरे हुए हो जाते हैं, छोटे पुरुष उठे तो वे अच्छे उठे हुए कहलाते हैं।

अहिंसाणुव्रत मूल गुण— मूलगुणोंके बिना तो श्रावक नहीं बताया है असली मायने में। यों तो नामका श्रावक भी अच्छा है तो अब सोच लेना चाहिये कि हमारी प्रवृत्ति किस प्रकारकी है जिससे हम योग्य श्रावक कहला सकें? जैन शासनकी पद्धति देखो। गृहस्थोंको पंच अणुव्रतका पालन बताया है और वह शान्तिमें कितना अधिक सहायक होता है इसे भी विचारना। अहिंसाणुव्रत आरम्भ न करना, खोटा व्यापार न करना, सात्विक रूपसे रहना, हिंसात्मक कार्य न करना, सो अहिंसाणुव्रत है। जहाँ खोटा वातावरण है, जहाँ खोटा व्यापार है वहाँ उन व्यापारोंके करनेके लिये संक्लेश करना पड़ता है। विकल्प अधिक करना पड़ता है। अहिंसाणुव्रतका लक्षण है। “त्रस हिंसाको त्यागि वृथा थावर न संहारे।” इस अणुव्रतमें इस गृहस्थको जीवनके स्वभावपर दृष्टि रहनेका कितना अवसर है?

हिंसामें अध्यात्मघातका आपादन—कोई यह प्रश्न करे क्यों जी कीड़ा-मकौड़ा अगर मर गया, बूढ़े शरीरको बदलकर उसने नया जन्म, नया शरीर पा लिया तो इसमें मारने का पाप क्यों लगा? मार डाला तो क्या हुआ? वह तो अन्य शरीर पा लेगा? तो इस के समाधानमें प्रश्नकर्ताकी पद्धतिमें उत्तर यों समझे कि भाई हिंसाका नाम है आध्यात्मिक दृष्टिमें मोक्षमार्गमें बाधा आ जाना, फिसल जाना संसारमें रुलते रहनेकी नौबत आना, यह है वास्तवमें हिंसा। जन्म-मरणकी ही बात न देखो। उसमें तो कह देंगे कि हो गया मरण तो क्या हुआ? नया जन्म तो मिल जायेगा। इसका मोक्षमार्गमें पत्ति होनेका पाप गिनकर समाधान करिये। कोई कीड़ा-मकौड़ा निगोदसे निकलकर अन्य स्थावरोंसे निकलकर किसी प्रकारसे तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रियके भवमें आया था, उस जीवने उन्नति की थी, अब उसका घात किया गया तो घातके समय उसका संक्लेश परिणाम होगा और संक्लेश परिणाम होनेसे जिस स्थानमें वह आज है उससे गिरी हुई स्थितिमें उसका जन्म होगा। मान लो वह एकेन्द्रिय बन जायेगा तो एक जीवको जो कि इतनी उन्नति कर चुका था, वह बहुत अधिक गिर जाय और एकेन्द्रिय वगैरह बन जाय, जिसका फिर कुछ ठिकाना नहीं, तो यह उसका कितना घात हुआ? तो हुआ न पाप। अहिंसा अणुव्रत पालनेवालेकी दृष्टिमें यह पापका भय बना रहता है कि किसी जीवकी अवनति न हो आय। वह मोक्षमार्गसे और दूर न हो जाय, दूर तो है ही, और दूर न हो जाय, ऐसा सम्यग्दृष्टि गृहस्थके मनमें अन्तः बात रहती है और इसी बुनियाद पर उसका यह अहिंसा पालन यथार्थ बना करता है।

मूलगुणोंमें सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य अणुव्रत—गृहस्थोंका कर्त्तव्य है कि वे सत्याणुव्रत ग्रहण करें, सत्यव्यवहारमें, सत्य बोलनेमें कितना आपत्तियोंसे बचा जाया करता है, जिसका झूठा ही जीवन है, जिसने झूठे लोगोंमें एक विकट जाल फैला रखा है उसको आत्मशान्ति नहीं रह सकती। सत्य

जीवन, सत्यव्यवहार, सत्य वचनके प्रयोगमें संकट दूर होते हैं। अचौर्याणुव्रतमें भी निःसंकट जीवन रहता है। जिसके पराई वस्तुकी चोरी या लूटका भव रहता है वह सत्त बेचैन रहता है। चोरी करके लूट करके भी वह सशल्य और व्यग्र रहता है। चोरीका भाव न हो, ऐसे स्वच्छ जीवनमें न शल्य होती न व्यग्रता रहती है। ब्रह्मचर्याणुव्रतमें भी यही बात है। स्वदारसन्तोष व्रत लेना, अपनी स्त्रीके अतिरिक्त समस्त बहू-बेटियोंको अपनी मां-बहिनके समान समझना और स्वस्त्रीमें भी सन्तोष वृत्ति रखना, आसक्ति न रखना, यही है ब्रह्मचर्याणुव्रत। इससे भी शान्तिका अवसर मिलता है।

मूलगुणोंमें परिग्रहपरिमाण अणुव्रत—एक अवशिष्ट मुख्य बात है परिग्रह परिमाण की। गृहस्थ परिग्रहका परिमाण करे तो कितनी ही आपत्तियोंसे बच जाता है। जिस मनुष्यके परिग्रहका परिमाण नहीं है उसको सदा तृष्णा बनी रहती है। जितना जो कुछ हो जाय सन्तोष नहीं कर पाता। अपनेसे अधिक धनिकोंको देखकर वे आश्चर्य भी करते हैं और यह आश्चर्यका भाव मिथ्यात्वका पोषण करता है और परिग्रहपरिमाण अणुव्रत ग्रहण करने वाले गृहस्थके चित्तमें तृष्णा नहीं जगती। यद्यपि परिग्रहका परिमाण अपनी इच्छासे कोई कितना ही रखले, लेकिन अनापसनाप जितना चाहे बढ़ाकर रखले तो वह तो निर्मलताका कारण नहीं होता। जैसे एक थोड़े पढ़े लिखे पंडितजी थे, उन्होंने क्या परिमाण रखा कि हम ५ हाथी, १० ऊँट, यों सब बड़ी-बड़ी चीजें गिना दीं और कहा कि इससे अधिक हम नहीं रखेंगे। स्थिति तो है उनकी अत्यन्त साधारण, गरीबीमें दिन काट रहे हैं पर परिमाण इतना बढ़ा लिया तो इससे मुफ्तका सन्तोष लूटनेकी मनकी बात समझिये।

ग्रहस्थका सुगम मार्ग—परिग्रह परिमाणसे तृष्णा नहीं होती। अधिक कमानेकी चिन्ता नहीं होती और बड़े धनिक पुरुषोंको देखकर इसके चित्तमें आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि यह परिग्रहको धूलवत् असार समझ रहा था, केवल गृहस्थीमें आवश्यकताके कारण कुछ जरूरत थी जिसका इसने परिमाण किया है। यों कितना सीधा मार्ग है पर चलनेकी बात है और जो इस पर चल सकता है वही इसका आनन्द लेता है। योगोजन संसारके प्राणियोंको निरखकर अपने आपमें ऐसा उद्यम करे हैं वैराग्य बढ़ जानेके कारण कि वे शान्तिको प्राप्त कर लेते हैं।

भवभ्रमण विभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।

एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥४०॥

योगीका जागरण—ये संसारी प्राणी बड़ी तेजीसे बड़ी कठिन-कठिन कुयोनियोंमें, संकटोंमें भ्रमण करनेसे विभ्रान्त हुए हैं और इस विभ्रान्ति व इस थकानके कारण मोहरूपी निद्रा उनके तीव्र आ गई है जिससे उनकी चेतना नष्ट हुई है, ऐसे इस जगत्में इन योगिराजोंके, जगत्के समस्त वैभवोंसे अतिपिवरक्तोंके केवलएक अपने ज्ञातृत्व स्वरूपके ही अनुभवमें निरन्तर उत्सुकता जागृत रहती है। जैसे जब लोग निरन्तर भ्रमण करनेसे खेदभिन्न हो जाते हैं तथा शरीर खेद खिन्न हो गया तो उससे बड़ी तेज निद्रा आती है। उस तेज निद्रामें यह जीव अपने आपको भूल जाता है, ऐसे ही ये जगतके

प्राणी बहुत परिभ्रमण करनेसे खेद खिन्न हो गये हैं और इसी खिन्नतामें मोहकी तेज नींद बराबर चली आ रही है, इनकी चेतना नष्ट हो गई है, ऐसा तो यह जगत् है, किन्तु इस जगत् में अभी भी ऐसे मुनिराज विराजमान हैं कि जो इस जगत्में रहकर बराबर जागरूक हैं, सावधान हैं।

रजस्तमोभिरुद्भूतं कषायविषमूर्च्छितम् ।

विलोक्य सत्त्वसन्तानं सन्तः शान्तिमुपाश्रिताः ॥४१॥

विषम संसार व विश्रान्ति—संसार, शरीर, भोगोंसे उदास, विरक्त पुरुष ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मरूप रजसे और मिथ्याज्ञानरूप तमसे अथवा रजोगुण, तमोगुणसे उद्भूत कषायविषसे मूर्च्छित जगत्के प्राणियोंको देखकर सज्जन पुरुष शान्तभावको प्राप्त होते हैं; जैसे स्कूलमें ऊधमी लड़केको पिटता हुआ देखकर अन्य बच्चे भी शान्त हो जाते हैं, इसी तरह इस जगत्के दुःखी जीवोंको निरखकर ये योगिराज स्वयं शान्त हो गये हैं। कहाँ जायें, क्या करें, कौनसी चीजसे यहाँ सुख मिल जायेगा? यों उनका विचार रहता है। उनकी चित्तवृत्तिमें यह भाव रहता है कि परोपकार करो।

परोपकारका लाभ—परोपकारका अर्थ क्या है? जो दीन दुःखी जीव हैं उनकी सेवा करो। दीन दुःखी जीवोंकी सेवा करनेसे क्या मिल जायेगा? कोई कहेगा कि इससे यश और नेतागिरी मिल जायेगी। अरे ये तो लौकिक लाभ हैं परोपकारीको आत्मा का भी लाभ है। वह किस तरह? यों कि जब दीन-दुःखियोंका उपकार किया जा रहा है, उनकी सेवा की जा रही है तो प्रथम प्रभाव उसका यह होगा कि विषयकषायोंकी बातें उस समय न आने पावेंगी, क्योंकि चित्त एक विलक्षण प्रकारका उस समय हो रहा है। तो पहिला लाभ तो यह मिला कि विषयकषायोंसे बचे। दूसरा लाभ यह है कि इस स्थितिमें जहाँ कि विषयकषायोंको अवसर नहीं मिल रहा और अपनेसे अधिक दीन दुःखियोंको निरखकर अपनी स्थितिमें उसे सन्तोष हो रहा है। हम बहुत कुछ अपना कल्याण कर सकनेके योग्य हैं। जहाँ यह निर्णय रहता है कि ये तो विशेष दीन दुःखी हैं, वहाँ तृष्णाका उदय नहीं होता है, तबकी स्थितिमें हम अपने आपके अंतस्तत्त्वका विशेष-विशेष स्पर्श कर सकते हैं। यह है परोपकारमें लाभ।

विशुद्ध सेवा—जितना अपना जीवन दीन दुःखियोंके उपकारमें बीते और उनके उपकारमें अपना कुछ समय लगे तो उसमें आत्माका विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होता है, आत्मतत्त्वका स्पर्श होता है। जबकि सुखी पुरुषोंकी सेवा करनेसे चित्तमें कायरता जगती है, दीनता आती है, आत्मलाभ कुछ नहीं मिल पाता है। हाँ जो वास्तविक सुखी हैं, अध्यात्म दर्शनके प्रतापसे जिसने परम आनन्द पाया है। उनकी सेवामें तो लाभ है, मगर जगत्के लौकिक सुखी जीवोंकी सेवासे चित्तमें कायरता जगेगी और दुःखी जीवोंकी सेवासे चित्तमें वैराग्य और ज्ञानप्रकाश जगेगा। ये जोगीजन इस प्राणिसमूहको कषायविषसे मूर्च्छित निरखकर शान्तिभावको प्राप्त हो जाते हैं।

मुक्तिस्त्रीवक्त्रशीतांशु दृष्टुमृत्कण्ठताशयैः ।

मुनिभिर्मथ्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालयः ॥४२॥

ज्ञानसागरका मन्थन—मुक्तिरमणीके मुखचन्द्रको देखनेके उत्सुक हुए मुनिजन साक्षात् विज्ञानरूपी

समुद्रका मंथन करते हैं। लोक रूढ़िमें कुछ ऐसी किंवदन्ती चली आई है, कि प्रभुने समुद्रको मथा, उसने चन्द्रमा निकला है। यह एक किंवदन्ती चली आई है। सो यहाँ अलंकारिक रीतिसे कहा है कि मुनिजन मुक्तिरमणी चन्द्रमाको देखना चाहते हैं। इस कारण वे ज्ञानरूपी समुद्रका मंथन करते हैं, अर्थात् ज्ञानके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। आत्मा सबसे न्यारा अपने स्वरूपमात्र तो है ही। ऐसा ही रह जानेका नाम मुक्ति है, और ऐसे ही निजस्वरूपका ध्यान करनेसे व्यक्त रूपमें मुक्ति प्राप्त हो जाती है। मुक्ति के अर्थ मुनिजन इस निज सहज अन्तस्तत्त्वकी उपासना करते हैं।

**उपर्युपरिसंभूतदुःखवद्विक्षतं जगत्।
वीक्ष्य सन्तः परिप्राप्ताः ज्ञानवारिनिधेस्तटम् ॥४३॥**

सुखद ज्ञानतट—बार-बार उत्पन्न हुई दुःखरूपी अग्निसे नष्ट हुए जीवलोकको देखकर संतपुरुष ज्ञानसमुद्रके तटको प्राप्त हुए हैं; जैसे कहीं अगल-बगल बनके छोर पर अग्नि तीव्र जल रही हो और वहाँ बहुतसे लोग खाक हो रहे हों तो बुद्धिमान लोग शीघ्र ही समुद्रके तट पर पहुँचनेकी कोशिश करते हैं, यहाँ हम आगसे बच जायेंगे, ऐसे ही इन विषयकषायोंके दुःखकी अग्निसे जल रहे लोगोंको देखकर ज्ञानी सत्पुरुष ज्ञानरूपी समुद्रके किनारे बैठ गए हैं। यहाँ आग आ न सकेगी और कदाचित् दुःख आयेगा, अग्नि यहाँ आयेगी तो थोड़ा समुद्रकी तरंगोंसे बुझा लेंगे। कहीं पानीमें आग तो न आ सकेगी, ऐसे ही इन ज्ञानी पुरुषोंने सोचा कि यह संसार दुःखोंका घर है। यहाँ दुःखरूपी अग्निसे यह जीवलोक जल रहा है। अपन सावधान हो जायें, इस तरह जलनेमें कुशलता नहीं है। जरा ज्ञानसमुद्रके किनारे बैठ जायें तो वहाँ इस दुःख विपदासे मुक्त हो जायेंगे। ऐसा सोचकर उन्होंने एक ही निर्णय किया है ज्ञानके निकट अपना उपयोग बनाये रहना।

शान्तिके उपायमें—इस जगत्में और सारभूत बात ही क्या है? एक अपने ज्ञानस्वरूपका उपयोग बनाये बिना कुछ भी अन्य उपयोग बना लो पर वहाँ चैन नहीं है। बाहरमें कुछसे कुछ संचय कर लो, वहाँ भी चैन नहीं है। शान्ति मिलेगी तो सबसे निराले ज्ञानमात्र निजस्वरूपकी प्रतीतिमें मिलेगी। यह उपाय बनावटी नहीं है। यह उपाय कहीं जोड़-तोड़ करके कुछ कृत्रिम किया गया हो सो नहीं है। यह उपाय अयथार्थ नहीं है। किसी संकटके समय और कुछ न सही तो इसीको ही कर लें, ऐसा कोई आपत्कालीनकी ढूँढी हुई चिकित्सा नहीं है, किन्तु यह बात ध्रुव यथार्थ है एक ज्ञानभावके स्पर्शके बिना हम आपको कभी शान्ति मिल नहीं सकती। एक बार तो सर्वविकल्पोंको त्यागकर अपने आपको सबसे सूना केवल निज प्रकाशमात्र निरख लो और निरखकर अन्तर्जल्पमें इसका जयवाद बोल तो लो इस निजकी जय हो, यह विकसित हो। यही एक उत्कृष्ट विजय है, बाहरी बातोंमें कुछसे कुछ स्थिति बनाकर और अपनेको विजयी समझकर भ्रममें बना रहना यह तो एक धोखे वाली बात है।

स्वहितके निश्चयका अनुरोध—भैया! खूब ध्यानसे विचार लो और अपने मनमें स्वहितका निश्चय बना डालो। जो बात सच है उसको यथार्थ मान लेनेमें ही अनुपम लाभ है और यह उपाय

है केवल भीतर एक ज्ञान जगानेका, जिसमें न द्रव्यका खर्च है, न किसीके हाथ जोड़ने पड़ते हैं, न कोई आधीनता है। यों ही बैठे-बैठे यहाँ भीतर ही भीतर जैसे कोई विश्रामसे बैठा हो तो अपने ही गलेमें से घूँट गटक लेता है बिना ही पानी पिये, मुंह भी बन्द है फिर भी गलेसे कुछ घूँट उतर आता है अब मन चंगा और विश्राम में होता है, ऐसे ही यथार्थ निर्णय करके इस वैभवको असार अहित जड़ भिन्न मानकर जैसे धूल पाषाण जुदे हैं ठीक इसी प्रकार ये वैभव, धन, दौलत भी जुदे हैं। जैसे कि धूल और पत्थरसे मेरे आत्मामें कोई वृद्धि नहीं होती, ऐसे ही चिकने चापड़े स्वर्ण वैभव इनसे भी आत्मामें रंच सिद्धि नहीं होती।

भावविशुद्धिका अनुरोध—जब सब यहाँ कल्पनाकी बात है तो ऐसी कल्पना करो जिसमें पूर्ण शान्ति भरी पड़ी हो। धन वैभव परिजनकी ममताकी कल्पनाएँ बनाकर कुछ छुटपुट मौज लूटी है तो वह कल्पनावोंकी मौज है। अब भाव ऐसा बनावो ना जिस भावमें आत्माको परमशान्ति प्राप्त हो। बच्चे लोग जीवनवारका खेल खेलते हैं। बैठा लिया १०-५ बच्चे और बड़े-बड़े कंकड़ बीन लाये, उनको मान लिया, गुड़की डली, लो खावो गुड़की डली, छोटे कंकड़ बीन लिये और कह दिया लो खावो चने, पत्ते तोड़ लिये, उनको देकर कहा लो खावो रोटी। अरे बच्चों जब कल्पना ही करना है तो गुड़की डली न कहकर अच्छा बड़ा रसगुल्ला क्यों न कह लो, अथवा छोटे कंकड़ोंको चने न कहकर बूँदी कह लो अथवा पत्तोंको रोटी क्यों कहकर परोसते हो, उन्हें अच्छी पूड़ी-कचौड़ी कह लो, जब कल्पना ही करना है तो अच्छा कल्पना करो, तुच्छ भावना क्यों करते हो? जब यह जगतमें केवल भावोंका ही सुख है, चीजका सुख नहीं है, किसी परवस्तुसे सुख निकल ही नहीं सकता। जब केवल भावोंका ही सुख है, तब अपनी हिम्मत बनाकर जरा ऐसा भाव बना लो जिस भावके बाद फिर और जघन्य भाव लौटकर आये ही नहीं और परम आनन्दका अनुभव किया जा सके।

आत्मरक्षाके यत्नमें—अपनी परिणति अपनी भीतरकी गाड़ी है, अभी बिगाड़ी पड़ी है, इसे जरा सुधार लो तो फिर चल जायेगी। जहाँ कायर चित्त है वहाँ सब बिगाड़ ही है। देखो ज्ञानी पुरुष इस जीवलोकको दुःखकी अग्निमें जलता हुआ निरखकर शीघ्र ही विवेक करके ज्ञानसमुद्रके तट पर पहुँच जाते हैं। इस कथनमें यह शिक्षा दी है कि ज्ञान का शरण लेनेसे ही दुःख मिटेंगे। दूसरा और कोई उपाय नहीं है। यहाँके लोगोंने न अच्छा कहा तो न कहने दो। अगर हम कीड़ा, मकौड़ाके भवमें होते तो इस मनुष्यके समूहमें हम कुछ आशाकी कल्पना ही न करते। हम न जानें कहाँके कहाँ थे? एक भव ऐसा ही सोच लो। अपने आपका मार्ग प्रशस्त हो, ज्ञानप्रकाश मिले ऐसा उद्यम करिये। यह क्या है यहाँकी विभूति? अरे! मरकर इससे हजारगुनी विभूति तुरन्त मिल सकती है, धीरे-धीरेकी कमाईसे क्या फायदा है। कमाई ऐसी करो कि चाहे इस भवमें कुछ भी न मिले, पर मरकर एकदम इससे लाखों गुना मिल जाए, और मिलनेको यह वैभव चाहे जितने गुना मिल जाए, पर अन्तमें सबका सब छोड़ कर जाना पड़ता है। अरे! अपने जीवनको सम्भालो, अपनी महत्ताका सच्चा आंकड़ा लगावो। इस मायाजालमें उपयोगको फंसानेमें ममतामें फंसे रहनेसे कुछ शान्ति नहीं मिलेगी।

अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा कर्मकालिका ।

सद्यः प्रक्षीयते येन विधेयं तद्धि धीमताम् ॥४४॥

कर्मकालिमाके प्रक्षयके उपायका अनुरोध—अनादिकालसे लगी हुई कर्मरूपी कालिमा यह बड़ी कठिनतासे छुटाने योग्य है। तब भले ही रहो दुश्त्याज्य लेकिन इस कालिमाको शीघ्र नष्ट करनेका उपाय करना ही अपना कर्तव्य है। अन्य उपाय करना वृथा है। बाहरमें किन्हीं पदार्थोंका निग्रह विग्रह करके अपने क्लेश मिटानेके उपायमें ऐसी अनिष्ट पद्धति उत्पन्न हो जाती है कि एक दुःखको दूर करनेका यत्न कर रहे थे कि इतनेमें दूसरा दुःख और आ पड़ा। देखो वर्तमानमें जो कुछ भी दुःख है, वह तो सहा नहीं जाता और भविष्यकालमें अनगिनते दुःख और आ जायें तब क्या करोगे? अरे, उन अनिष्ट परिस्थितियोंकी ओर दृष्टि देकर इस छोटेसे ही दुःखको समतासे सहन कर जाइये, तब यह भी सम्भव है कि भविष्यके आने वाले दुःख भी इस उपायसे टाले जा सकते हैं।

उदारताका परिणाम—ऐसी एक किंवदन्ती है कि एक मनुष्यको जीवनमें एक वर्ष तो दिया सुखका और बाकी साल दिये दुःखके, और पूछा गया कि भाई यह बतावो कि पहिले सुखके दिन चाहते हो या दुःखके? तो उसने कहा कि सुखका वर्ष मुझे पहिले दीजिये। वह बुद्धिमान था, तो सुखके वर्षमें मिले हुए सारे समागम धन, वैभव उसने परोपकारमें लगा दिये। जो होना होगा सो होगा, आखिर दुःख तो आना ही है, जितना दुःख आना हो आवे। जो दुःख आगे आयेंगे उनको अभीसे अपने आपमें बनाकर देख लें, यह भी तो एक खेल है। कर्मोंके अनुसार आये हुए दुःख भोगना है। जो भी दुःख आते हैं उनको भोगते हुएमें ज्ञानदृष्टि बनाये रहनेका अभ्यास तो कर लो। तो उस पुरुषने एक वर्षमें दान, त्याग, परोपकार, उदारता सब कुछ कर लिया, फल यह हुआ कि वे अगले समयके भी दुःख शान्त हो गए। यह कर्मकालिमा अनादिकालसे लगी हुई है यह जिस उपायसे शीघ्र नष्ट हो वैसा उपाय करना चाहिये।

निष्कलङ्कं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम् ।

वदन्ति योगिनो मोक्षं जन्मसन्तेः ॥४५॥

मोक्षमें निष्कलङ्कता व सहज विकास—इस जीवका हित मोक्षमें है अर्थात् कर्मोंसे विकारोंसे छूट जानेमें हित है। यह मोक्ष सर्वप्रकारकी कालिमासे रहित निष्कलंक है। चीज तो जो है सो है ही। बाहरी गंदगी लग गई है उसे धोकर दूर कर दो। जो है सो वही निकल आयेगा। सो यह आत्मा अपने सत्वसे जो स्वरूप रख रहा है वह तो अपने कारणसे है ही, इस पर जो व्यर्थकी कालिमा चढ़ गई है, विकारांश आ गया है, उपाधियां लग गई हैं, एक अज्ञानरूपी जलसे, उन्हें धो-धाकर साफ कर दो। तुम जो हो सो ही रह गये, यही मोक्ष है।

सुभग पुरुष—वे पुरुष कितने भाग्यशाली हैं, कितने भाग्यशाली थे जिनका आत्मगृह सर्वसंकटोंसे दूर करने वाले जिनवचनोंसे, जिनशास्त्रोंकी शरणसे, संतोंके सत्संगसे, जिन तत्त्व मर्मकी चर्चासे भरपूर और स्वच्छ सत्य शृंगारसे सजा हुआ रहता था। उनके सौभाग्यकी तुलना किस विभूतिसे की जा सकती

है? करोड़पति, अरबपति भी कोई हो, आप सब लोग समझते भी हैं, कौनसी वहाँ वृद्धि है, शान्ति है, गुण है? जो लोग उन्हें बड़ा मानकर उनकी ओर झुकते हैं तो क्या उनके गुणोंसे आकर्षित होकर उनकी ओर झुकते हैं? क्या सौभाग्य है, कौनसी उत्कृष्टता है? अरे वे स्वयं अपने आप कितनी मलिनतामें हैं, कितने मायाचार और लोभसे ग्रस्त हैं? इस जगतमें बाहर कहाँ शरण ढूँढ़ते हो? एक ज्ञानसलिल ही ऐसा समर्थ उपाय है जिसके द्वारा यह समस्त मल कलंक, दोष धोया जा सकता है।

मोक्षकी निराबाधता—यह मोक्ष निष्कलंक है, निराबाध है। बाधाएँ आती हैं परसंग से। मोहमें मोही जीव अपनेको निर्बाध समझते हैं परसंगसे यही तो एक क्लेश है। जितनी परसंगसे विमुक्ति होती जायेगी यह जीव जितना परसे निवृत्त होकर निजमें मग्न होता जायेगा उतना ही इसका चमत्कार बढ़ता जायेगा। वह मोक्ष निराबाध है और सानन्द है। जहाँ किसी भी प्रकारका दुःख नहीं है, परम निराकुल दशा है। ये सांसारिक सुख, सुखके हेतु नहीं है, विनश्वर हैं, तृष्णा उत्पन्न करने वाले हैं, आन्तरिक शान्ति करनेमें समर्थ नहीं हैं। शान्ति उत्पन्न करना तो दूर रहा ये तृष्णाकी आग सुलगाते हैं। कितनी बड़ी हैरानीकी बात है जहाँ सार नहीं, आधार नहीं, हित नहीं, शरण नहीं और क्या कहें? इस परके आलम्बनको निरखकर ज्ञानी जीव तो उपहास करते हैं। क्या किया जा रहा है यह?

परमात्मतत्त्वकी शुद्धि व सानन्दता—इस आत्मामें रंचमात्र भी कुछ परपदार्थ ठहरने नहीं आता, यह सबसे न्याराका न्यारा ही बना रहता है, लेकिन यह मोही जीव इन दुःखी जीवोंमें अपना नाम चाहनेके लिये, इन मलिन प्राणियोंमें अपने आपको मुखिया बना देनेके लिये, इस जन्म मरणके दुःखसे पीड़ित जनसमूहमें अपने आपमें उनका बादशाह जता देनेके लिये अपने आपमें क्षोभ उत्पन्न करके बेचैनीका अनुभव कर रहा है। यह मोक्ष अवस्था ही आनन्द सहित है। अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। सारा ठाठ व्यर्थ है, लगे रहो और मरते समय भी इस ठाठको चिपकाये रहो तो भी होगा क्या? इसमें सिर मारनेसे, विभूतिमें उपयोग आसक्ति रखनेसे कुछ पूरा न पड़ेगा। इस मूढ़तासे तो इस संसारके दुःखोंकी अग्निसे संतप्त होता ही रहना होगा। भैया! अपने आपको ऐसा अकिञ्चन् निजस्वरूपमात्र अनुभव कर लो जहाँ तुम्हें देहका ही ख्याल न रहे। कहाँ है यह देह? कौनसी सारभूत चीज है यह देह? अपने आपका शरीर अपने आपको कितनी दुर्गन्धित लग रहा होगा? यही तो सर्वत्र है। कौनसा पदार्थ इस जगतमें रम्य है?

अज्ञानियोंका व्यामोह—अहो! ये अज्ञानी सुभट भगवानसे भी आगे बढ़नेकी होड़ मचा रहे हैं। ये अज्ञानी सुभट भगवानके दर्शन भी करते होंगे कि देखो मैं कितना चतुर निकला कि भगवानके दर्शन करके भी अपना काम निकाल लेनेमें मैं कुशल रहा। भगवान तो जो जैसा है उसे वैसा ही जान पाते हैं, उनमें इतनी शूरता अब नहीं रही कि किसी भी पदार्थके बारेमें वे दसों और भी कल्पनाएँ कर लें। जैसा ही तैसा ही झलकमें आता है, किन्तु यह अज्ञानी सुभट उस पदार्थके बारेमें ऐसी पचासों कल्पनाएँ कर बैठेगा जिनका वहाँ कुछ लगाव भी नहीं है। यह काम भगवान भी नहीं कर पाते। पर इस उल्टी लीलाको कर लो, समर्थ तो हो ना, लेकिन इसमें कुछ सार नहीं है। इस अज्ञान और मोहकी

विडम्बनामें कुछ शरण न मिलेगा। यह व्यर्थकी ममता अहंकार कषाय केवल आपको बरबाद करनेके लिए ही उत्पन्न हुए हैं।

मोक्षकी स्वभावजता—सुख तो मोक्षमें है। यह सुख अपने स्वभावसे उत्पन्न है, अतएव अविनाशी है। जो दूसरेका उपजाया हुआ सुख हो वह तो नष्ट भी हो सकता है, किन्तु जो स्वभावसे उत्पन्न हो उसका विनाश नहीं है। यह मोक्ष जन्म संततिका उल्टा है, विपक्षी है, योगी पुरुष ज्ञानी संत पुरुष ऐसा मोक्षका स्वरूप जानते हैं और उसका ही यत्न करे हैं।

जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे ।

प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम् ॥४३॥

प्रमादपरिहारका कर्तव्य—यह मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है और यह जीवन निःसार है। ऐसी अवस्थामें प्रमादका परित्याग करके मनुष्योंको अपना हित करना चाहिए। एक तो यह मनुष्यजन्म दुर्लभ है तो कोई यों सोचे कि मनुष्यजन दुर्लभ है, बहुत दिनोंमें मिल पाया है तब यहाँ खूब सुख लूटना चाहिये तो साथ ही यह भी बताया है कि यह जीवन निःसार है। यदि इस समागमसे उपेक्षा करके स्वहितमें लगा जाय तो ऐसी बात सुगमतासे बन सकना मनुष्यजन्ममें होती है। अतः इस मनुष्य जीवनमें आत्महितका उपाय करना यह एक बुद्धिमानीका काम है।

विचारचतुरैर्धीरैर्यक्षसु खालालसैः ।

अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेयः परमादरः ॥४७॥

अन्तस्तत्त्वमें आदरका अनुरोध—जो धीर और विचारशील पुरुष हैं तथा अतीन्द्रिय सुखकी लालसा रखते हैं उन्हें प्रमाद छोड़कर इस मोक्षका ही आदर करना चाहिये। सुख दो प्रकारके कहे गये हैं, एक इन्द्रियजन्य सुख और एक अतीन्द्रियजन्य सुख। अतीन्द्रिय विशेषणके साथ सुख न कहकर आनन्द कहना चाहिये। इन्द्रियसमूहमें क्या दम है, केवल एक भूलभुलैया है। कुछ समयको काल्पनिक कोई सुख पा लिया उस सुखमें क्या स्थिरता है, उस सुखमें आसक्त होकर जो कर्मबन्धन हो जाता है वह सब कहीं भाग तो न जायेगा, उसका फल संसारमें जन्म मरण करते रहना है, रुलते रहना है। विवेकी पुरुष मोक्षसुखकी ही अभिलाषा रखते हैं, इन इन्द्रियज सुखोंकी वे अभिलाषा नहीं करते। ज्ञानार्णव ग्रन्थकी भूमिकामें ऐसी शिक्षा दी है कि जिससे इस ग्रन्थके वक्तव्यमें श्रोताओंकी रुचि जगे और उस प्रतिपादनसे अपना लाभ ले लेवें।

न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः ।

अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥४८॥

समयके सदुपयोगका सन्देश—हे भव्य जीव, इस दुर्लभ मनुष्यजन्ममें विवेकसे शून्य रहकर अपने जीवनको व्यर्थ न गमावो, आत्माका विकास होना दुर्लभ चीज है। मनुष्य जन्मकी कोई खास बात नहीं है। मनुष्यजन्मकी दुर्लभता इस कारण दुर्लभता कही जाती है कि इस भवमें आत्मविकासका अवसर मिलता है। एक आत्मविकासका लक्ष्य त्याग दिया जाय और फिर बात क्या रही, तब

आत्मविकास ही एक दुर्लभ बात हुई। वर्तमानमें भी अन्य जीवोंको देखकर नाप तौल भी कर लो। अन्य जीवोंकी अपेक्षा मनुष्य की बुद्धिका कितना अतिशय है, मनुष्य कितनी बातें सोच लेता है, कितनी ही बातें हम ज्ञानसे, कुछ नये-नये मर्मोंसे जान लेते हैं, इन पशु पक्षियोंमें तो यह बात नहीं देखी जाती। आत्मविकासका अधिकाधिक अवसर है तो इस मनुष्य भवमें है। ज्ञान बढ़ने लगे, अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जायें, समस्त कर्मकलकोंको विनष्ट करके एक इस आनन्दको प्राप्त कर लें तो यह सारभूत कर्तव्य है।

दुःखजाल—जब तक ये जन्म-मरण लग रहे हैं तब तक इस जीवको चैन नहीं है, एक दुःख मिट नहीं पाया कि दूसरा दुःख आ जाता है। तब यहाँ के समागमोंमें कुछ सुधार निग्रह-विग्रह विचारना, यह तो बन्द करना चाहिये और अपने आपमें सम्यग्ज्ञानके निवास करानेकी बात सोचना चाहिये। कोई भी स्थिति हो सर्वस्थितियोंमें सुख मिलता है ज्ञानसे। जब कभी कोई पुरुष भोग भी भोगता हो, इन्द्रियके विषयोंको भोगता हो, वहाँ पर भी जो सुख मिलता है वह एक कल्पनाका सुख है। बाह्य पदार्थोंका क्या सुख है? हम ज्ञानको ही करते हैं ज्ञानको ही भोगते हैं, ज्ञानका ही आनन्द लेते हैं। यह बात सब स्थानोंमें सही है, किन्तु इस पर श्रद्धा नहीं है, सो ऐसा करनेकी श्रद्धा न होने के कारण सब बातें उल्टी-उल्टी पड़ती जाती हैं। इसी बात पर हम कुछ डटें तो सही। एक यही बात अपने जीवनमें मान लें कि मैं अपने ज्ञानको करता हूँ, अपने ज्ञानको ही भोगता हूँ, चाहे किस ही रूप भोगूँ? किसी बाह्यपदार्थका न मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ, किसी बाह्यपदार्थसे कुछ भी मेरा सम्बन्ध नहीं है ऐसी दृढ़तासे रह जाय तो शान्तिका मार्ग स्पष्ट बन गया।

अन्तर्ज्ञानका उपयोग—श्रद्धामें कायरता करना, यह तो अति अयोग्य बात है। जो जैसा है वैसा ज्ञानमें आ जाय, इसमें कोई कष्ट नहीं है बल्कि यह तो आत्माकी प्रगति होना है। जो जैसा है तैसा ही ज्ञानमें आये, और ऐसा होना स्वाभाविक बात है लेकिन एक मोह पिशाच ऐसा अन्तर्निविष्ट कुभाव है जिसके कारण अपने ही घरमें बड़ा अंधेरा छाया है, माना कि कर्मोंका आक्रमण है, बड़ा क्लेश है, सब कुछ है, पर सब कुछ होते हुए भी हम अपने भीतर ही भीतर अपने आपमें अपने आपको ढूँढ लें, उसका यथार्थ ज्ञान कर लें तो कुछ आपत्ति है क्या ऐसा काम करने में? अरे एक निजका काम कर लेनेमें क्या कष्ट है? कौनसी आधीनता है? सारा क्लेश मोह रागद्वेषका है। सब घटनाएँ कह डालो, सुन लो, सर्वत्र यही बात है। केवल क्लेश है तो मोह, राग और द्वेषका है। जिस विधिसे ये विभाव मिटें उस विधिमें ही अपनी भलाई है।

गृहस्थीकी सफलता—गृहस्थी मिली है तो इसलिये के मिल-जुलकर खुद धर्ममें आगे बढ़ें और परिवारके लोग भी धर्ममें आगे बढ़ें। संसारके सुख, साधन ये तो सब होते ही हैं, उदयानुकूल आते ही हैं। प्रधान दृष्टि, प्रधान कर्तव्य तो इतना होना योग्य है परिवार में कि चलो हम भी धर्ममें बढ़ें और ये स्त्री पुत्रादिक ये भी धर्मका विकास पायें, ऐसा यदि कार्य होता है घरमें तो आपका वह परिवार आदर्श है, आप घरमें भी रहें किन्तु ज्ञानमें लगे, शुद्ध ज्ञानप्रकाश जगे, इससे बढ़कर और

गृहस्थ सीमामें वास्तविक सुख कुछ नहीं कहा जा सकता। बाकी बातें तो होती ही हैं। धर्ममें न लगे तो भी हो रही हैं, बल्कि धर्ममें लगने वालेके ये सुख और विशेषतासे, अतिशयसे हुआ करते हैं। धर्म हमेशा आनन्द ही देता है। धर्म तो कष्ट देता ही नहीं है। पर कदाचित् धर्मके बजाय कोई पाप कार्य करें और उसमें ही धर्मकी मुद्रा बनायें तो उसमें कष्ट है और इस ही नीतिसे धर्मका अपवाद है। यह पाप इतना चालाक है कि करता यह तो सब कुछ अनर्थ है, किन्तु धर्मका नाम लेपट देता है और धर्मको अपमानित कर देता है। लोगोंकी श्रद्धा धर्मसे हटती है। अरे धर्म करने वाले तो ऐसा किया करते हैं।

पापकी चालाकी—एक किसानके तीन बैल थे। एक बैलको रोज वह अपने घरके आंगनमें बांध जाया करता था और दो बैल खेती करनेके लिये ले जाया करता था। आंगनके पास एक दीवालमें एक अल्मारी थी, उसमें वह अपना खाना रखा करता था। रोज एक बन्दर आये अल्मारी खोलकर दाल रोटी खाये और जो दाल वगैरह बच जाय उसे बैलके मुखपर पोत दे। बैलके मुखपर रोज दाल पुती हुई किसान देखे तो समझ जाय कि हमारा खाना इस बैलने खा डाला है। यों रोज-रोज उस बैलको वह पीटता था। पड़ोसियोंने समझाया कि इस बैलको तुम क्यों पीटते हो? अरे यह कैसे अल्मारी खोलकर तुम्हारा खाना खा डालेगा और फिर अल्मारी बंद कर देगा। तुम तो छुपकर देखो कि ऐसा कौन करता है? उसने छुपकर देखो कि एक बन्दर आया और उसने ये सारी क्रियायें कीं। उसने उस बन्दरको पकड़कर पीटा, या कुछ भी किया समझ लो, पर प्रयोजन यह है कि जैसे क्रियायें तो सारी वह चालाक बन्दर करता था और नाम लगता था बैलका, ऐसे ही सारे उपद्रव तो पाप किया करता है पर यह पाप धर्मकी ओटमें धर्मका नाम लगाकर अपवाद किया करता है। तो इससे कहीं धर्म अधर्म तो न बन जायेगा? जितने अपवाद हैं, जितने क्लेश हैं वे सब पापके हैं, धर्म के नहीं हैं। धर्म तो सदा सुख शान्तिका ही बरसाने वाला है।

धर्मका स्वरूप—धर्मका लक्षण समंतभद्र स्वामीने कहा है कि जो संसारके दुःखोंसे छुटाकर जीवोंको सुखमें पहुँचा देता है उसे धर्म कहते हैं। यह फलित अर्थ हुआ। जो धर्म करेगा वह दुःखोंसे छूटकर सुखमें पहुँच जायेगा। शब्दार्थ क्या है? “पदार्थः आत्मनि यं स्वभावं धत्ते स धर्मः।” पदार्थ अपने आपमें जो स्वभावको धारण करता है उस स्वभावका नाम है धर्म। अपने आपमें धर्मकी खोज तो कीजिये, अर्थात् अपने स्वभावकी खोज कीजिये। पदार्थका स्वभाव क्या है? पदार्थका स्वभाव पदार्थमें निरन्तर रहता है। उसका स्वभाव क्या क्रोध है? क्या मान, माया, लोभ इत्यादि हैं? ये कषायें बदल बदलकर चलती हैं, इनमें कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रह पाती। जब जानो कि कषाय करना पदार्थका स्वभाव नहीं है किन्तु ज्ञान सदैव होता रहता है। क्रोध कर रहा हो वहाँ भी ज्ञान है, मान, कपट अथवा लोभ वगैरह रह रहा हो वहाँ भी ज्ञान है। ज्ञान कभी साथ नहीं छोड़ता। ज्ञान स्वभाव है, ज्ञान धर्म है।

क्रोधके अनर्थ व आत्मधर्म—कषायें धर्म नहीं हैं, प्रत्युत कषायें आकुलताको ही उत्पन्न करती

हैं। क्रोध होने पर कोई मनुष्य चैनमें नहीं रहता है क्या? क्रोधी तो अति दुर्बल होता है, क्रोधमें आकर यदि यह कुछ किसीको आज्ञा देता है डाट डपट दिखाता है तो उसकी आवाज साफ नहीं निकलती। घरमें ही देख लो जब किसी बच्चेसे आप बड़े जोरसे बोलेंगे, डाटेंगे तो जो भी आप बोलेंगे वह बोल फसफस निकलेगा। तो क्रोध अन्तर्ङ्गमें जिसका उमड़ा उसकी सारी मशीन खराब हो गई। अब बोलेंगे भी तो साफ आवाज न आयेगी। वह बच्चा समझ ही न पायेगा कि मुझे क्या कह रहे हैं? बच्चा आज्ञा मानेगा नहीं, तो यह और भी क्रोध करेगा। क्रोधमें किसने चैन पाया है? क्रोधका ही तो परिणाम है कि द्वीपायन मुनिने अपना भी विनाश किया और नगरीका भी विनाश किया। आप घी का डबला हाथमें लिये हों और आ आय क्रोध तो आपको नुकसानकी बात चित्तमें न आयेगी। आप उस डबलेको पटक देंगे। अरे नुकसान किसका हुआ? खुदका ही तो हुआ? क्रोधी आदमी अपना नुकसान भी नहीं सोचता। क्रोधसे चैन कहाँ है? चैन मिलेगी धर्ममें, ज्ञानदृष्टिमें।

मानका अनर्थ—अब मानकी बात देखो। घमंडमें आकर कितने अनर्थ हो जाते हैं, घमंड करने वाला अपने आपको स्वाहा कर डालता है और दूसरोंको भी हानि पहुँचानेमें कारण बनता है। उस मानीको कोई जबरदस्त मानी मिल जाय तो फिर वह सारी कसर निकाल देता है। आपको एक हठी स्त्रीकी कथा सुनायी थी। अब चलो उसकी दूसरी भी बात सुनो। उसके मनमें आया कि पतिके मूँछ मुड़ायेँ सो पेट दर्दका बहाना किया और अपने पतिसे कह दिया कि जो हमसे प्रेम करता है और वह यदि अपनी मूँछ मुड़ाये तो हम ठीक होंगी। नहीं तो मर जायेंगी। पहिले जमानेमें मूँछ मुड़ाना बुरा समझा जाता था। पतिने मूँछ मुड़ा ली। अब यह स्त्री प्रातः चक्की पीसते समय यह गाना गाय “अपनी टेक रखाई, पतिकी मूँछ मुड़ाई।” पति यह सुनकर बड़ा पछताया। अब उसको छकानेके लिये स्वसुरालको खबर कर दी कि तुम्हारी लड़की बहुत बीमार है जो भी इससे प्यार करते हों वे सभी अपने मूँछ तथा सिर घुटाकर सवेरा होते ही होते दर्शन दें तो बचेगी, नहीं मर जायेगी, ऐसा एक देवने स्वप्नमें बताया है। स्वसुरालके कुटुम्बने ऐसा ही किया। जिस समय चकिया पीसते हुए वह यह गा रही थी कि ‘अपनी टेक रखाई। पतिकी मूँछ मुड़ाई।’ उसी समय स्वसुरालके सभी लोग मां, बाप, भाई, बहिन, बुवा सभी अपने-अपने मूँछ तथा सिर वगैरह मुड़ाकर पहुँच गये। स्त्री गाती है ‘अपनी टेक रखाई, पतिकी मूँछ मुड़ाई।’ पति कहता है “पीछे देख लुगाई। मुंडनकी पल्टन आई।” तो मानीका जब किसी जबरदस्तसे मुकाबला पड़ता है तब उसका होश ठिकाने आता है।

लोभका दाह—लोभ तो महान दाह उत्पन्न करता है, लोभी पुरुष लोभके कारण भीतर ही भीतर छल कपटकी बात सोच-सोचकर दुःखी होता जाता है। लोभमें जल-जल कर अपनेको माह संक्लिष्ट बना देना यह भली बात नहीं है। यदि कषायें होती हैं तो समझो कि ये आफत है, किसी तरह इनसे निपट जायें और अपने आनन्दका स्रोतभूत जो निज आत्मतत्त्व है उसकी दृष्टि बने, ऐसा भाव और ऐसा यत्न अपना बनाये रहना चाहिये। यहाँ धर्मधारण करनेके लिये प्रेरणा की हैं बुद्धिमान जनोंको इन विषयकषायोंकी अभिलाषाको त्यागकर एक धर्ममय ही अपना उपयोग बनाये रहनेका यत्न करना चाहिये।

धर्मपालक विचार—देखो धर्मपालन मूलसे इन विचारोंसे हुआ करता है यह मैं आत्मा सर्वविभाव देह रागद्वेषादिक भाव इन सबसे जुदा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ। मेरे ही सत्त्वके कारण मेरा जो स्वरूप रह सकता है उस स्वरूपमात्र मैं हूँ, ऐसी अपने स्वरूप की भावना बने तो वहाँ धर्मपालन होता है। बाहरी जितनी भी व्यवहार धर्मकी क्रियायें की जाती हैं उन सबका मूलमें एक यही उद्देश्य रहता है। ज्ञानी संतपुरुषोंकी सब झुकाव की कलाकी बात है। स्वयंकी ओर मुझे वहाँ आनन्द बरसता है, परकी ओर उपयोग जायेगा तो उससे दाह ही उत्पन्न हुआ करती है। जरासी दृष्टिके फेरमें कितना अन्तर हो जाता है? हम सत्संग करके, ज्ञानार्जन करके गुरुसेवा, प्रभुभक्ति अनेकानेक उपायोंसे हम अपनेको ऐसा बनायें कि भीतर हम अपने एकत्वकी ओर झुके रहें, बाह्यपदार्थों से हमारी तृष्णा न जगे, इस भावमय यत्नमें धर्मका पालन है और इस धर्मपालनका नियम फल मिलता है।

**भृशं दुःखज्वालानिचयनिचितं जन्म गहनम्।
यदक्षाधीनं स्यात्सुखामिह तदन्तेतिविरसम्।
अनित्या कामार्थाः क्षणरुचिचलं जीवितमिदम्।
विमृश्योच्चैः स्वार्थे क इह सुकृति मुह्यति जनः ॥४९॥**

जन्मवन—यह संसार अर्थात् यह जन्म परम्परा दुःखकी ज्वालाके समूहसे व्याप्त गहनबनकी तरह है। जैसे भयंकर वन हो और उसमें लगी हो चारों तरफसे आग, तो उसमें फंसे हुए मनुष्योंका क्या हाल होगा? इसी तरह यह जन्म परम्पराका जंगल यह संसार वन जिसमें सर्व ओर दुःखोंकी ज्वालायें भरी हुई हैं ऐसा यह संसार वन कितना गहन वन है, भयंकर वन है? किस ओर आप जायें कि जहाँ विश्राम मिल सके। संसार है कोई क्या ऐसा स्थान, कौनसा समागम यहाँ ऐसा है जिस समागमको पाकर हम सुखी और संतुष्ट रह सकें। सुखके साधन रहते हैं तो यह चित्त और उद्वण्ड होता है और किस-किसका विकल्प सोचते हैं, कैसी-कैसी आपत्तियोंको सिर मोल लेते हैं। भयंकर स्थिति है।

संसारमें विश्रामधामका अभाव—संसारमें कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जहाँ कि इस जीवको विश्राम मिल सके। यही एक मनुष्य जीवनका उदाहरण ले लो। जब बहुत छोटे थे तो और तरहकी तृष्णा थी, खेल खेलनेको न मिले तो रोने लगे, मन चाहा कुछ न मिले तो रोने लगे। प्रयोजन कुछ नहीं है, पर चवन्नी दुवन्नी न मिले तो रोने लगे, लावो पैसा। अच्छा तो तुम पैसा ही ले लो, खावो मत, करो अपनी दुकान। छोटे-छोटे बच्चोंके भी पैसोंकी तृष्णा होती है। छोटे बच्चे जिन्हें बोलना भी नहीं आता वे पहिचानते हैं कि यह अठन्नी है और यह चवन्नी है और यह दुवन्नी है। उन बच्चोंको छोटे पैसे दिखावो तो वे फेंक देते हैं। लो इस तरहकी तृष्णा हुई, जरा और बड़े हुए तो और तरहके विकल्प, पैसा कमानेका दुःख। फिर विवाह चाहा तो विवाह भी हो गया विवाह होनेके कुछ ही महाने बाद बड़े आपसी झगड़े खड़े हो जाते हैं और वे झगड़े भी बड़े विचित्र, वे झगड़े छोटे भी नहीं जाते, प्रेमसे रहा भी नहीं जाता। बच्चे हो गये तो और प्रकारके दुःख। कोई बड़ा ही समझदार है, ज्ञानी है

तो समूहमें बैठकर और प्रकार के विकल्प करता है। इन विकल्प ज्वालावोंकी कहाँ तक कहानी कही जाय। साधु भी हो जाये और वहाँ भी ये विकल्प सम्भव रह जाते हैं, मैं साधु हूँ, मुझे यों रहना चाहिये, लोगोंसे मुझे यों व्यवहार करना चाहिये, इस तरहके विकल्पोंने साधुवोंका अंतःक्षेत्र भी मलिन कर दिया। कहाँ तक विकल्पोंकी कहानी कही जाय? कौनसी परिस्थिति ऐसी है जहाँ यह संसारी जीव सुखी रह सके? तो यह जन्मवन बड़ा गहन है, दुःखकी ज्वालावों से भरा हुआ है।

इन्द्रिय सुखकी नीरसता—यह इन्द्रियज सुख एक तो अत्यन्त विरस है, दूसरे दुःख का ही कारण है। खूब चाट चटपटी मिठाई खा लेवे तो २-३ घंटे बाद बुरी डकारें आयें उसका दुःख भोगें कोईसा भी भोग हो प्रत्येक अन्तमें नीरस हो ही जाता है, कोईसा भी भोग ले लो। कर्णेन्द्रियका भोग ले लो, संगीत सुन रहे हैं, खूब गायन हुआ, दो तीन बज गये, अन्तमें वह विरस लगने लगता है। बहुत बढ़िया भी संगीत हो, खूब सुने मन भर, लेकिन अन्तमें जब विरस लगने लगता तो फिर उठना पड़ता है। यह तो बहाने की बात है कि बहुत देर हो गई इसलिये अब बंद करें। अरे देर तो कितनी ही हो जाये, यदि आनन्द आता है तो वह बैठा रहेगा, वह भी विरस है। कोई रमणीक वस्तु हो उसे खूब देखते रहो टकटकी लगाये तो अन्तमें वहाँ भी थकान हो जायेगी। वह भी विरस लगने लगेगी। इत्र सूँघनेसे सुख मिलता है तो रुईको खूब गीली भिगोकर नाकमें ठूँसे रहो, पर वहाँ भी मन ऊब जायेगा। भोजनमें भी यही हालत है, स्पर्श भी यही हाल है। तो यह इन्द्रियसुख अन्तमें नीरस हो जाता है।

इन्द्रिय सुखमें क्षोभव्याप्ता—खैर कल्पनासे जितने समय तक तुम उसमें रस मानते हो उतने समय भी तो बिना क्षोभके शान्तिसे भोगा तो नहीं जाता। एक पक्का नियम है इन्द्रिय द्वारा जो भी भोगा जायेगा वह शान्तिसे भोगा ही नहीं जाता। क्षोभ होगा, धैर्यसे न भोगेगा धैर्यका भंग करके ही तो भोग भोगना होता है तो ये इन्द्रियसुत्र दुःखके कारण हैं, और जब तक भी इन्हें भोग रहे है तब तक दुःखसे मिले हुये हैं। जहाँ बच्चों का सुख माना जा रहा है वहाँ वैभवसे सुख माना जा रहा है वहाँ उससे कई गुणा उस वैभवके प्रसंगमें दुःख को भी भोगे जा रहे हैं। ये संसारके सुख दुःखोंसे व्याप्त है।

वैभवकी चंचलता—ये भोग, ये धन बिजलीकी तरह चंचल है; जैसे बिजली क्षण भरको चमकी कि समाप्त हुई ऐसे ही यह जीवन है। जैसे पहाड़से गिरने वाली नदीका वेग फिरसे पहाड़के ऊपर नहीं जा सकता, जो पानी पहाड़के नीचेसे बह गया वह पानी पहाड़ पर उल्टा चल दे, ऐसा तो नहीं होता। गुजरा वह तो गुजरा ही गुजरा। इसी प्रकार जो जीवन गुजरा वह जीवन गुजरा ही गुजरा यह जीवन भी बिजलीके समान चंचल है। इन सब बातोंका विचार करने वाले जो सत्पुरुष होते हैं वे मोहको प्राप्त नहीं होते। समस्त वैभवोंको दुःखरूप साररहित जानकर बुद्धिमान्नीसे अपने हितकी साधना करनी चाहिये। हितका साधन है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यह पद्धति बनी रहे इस प्रकारके ध्यानका अभ्यास रहना चाहिये।

सङ्गैः किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयैः
 मृत्यु किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः।
 श्वभ्राः किं न भयानकाः स्वप्नवद् भोगा न किं वञ्चकाः,
 येन स्वार्थमपास्य किन्नरपुरप्रख्ये भवे स्पृहा ॥५०॥

विषादका कारण—इन संगोंसे क्या यह जीवन विषादसे भरा हुआ नहीं बनता? अर्थात् यह परिग्रह धन धान्य स्त्री कुटुम्ब आदिका मिलाप क्या यह तुझे विषादरूप नहीं करता? किसी भी परिजीवसे अपना परिचय बनाना यह ही एक आपत्तिका मूल है। जीवका परिचय तभी बन पाता है जब जीव जातिसे अलग हटकर व्यक्तिरूपमें इसको न्यारा करके निरखा जाय, यही है मोहमय काल्पनिक परिचय। जहाँ यहाँके लोगोंसे परिचय हुआ वहींसे दुःख प्रारम्भ होने लगा। यह संग क्या तुझे विषादको प्राप्त न करायेगा? और जीवन है ही क्या? संग करना और दुःख भोगना, इन दोका जोड़ है इसीके मायने यह जीवन है। समागम बनाना और दुःख भोगना; जैसे सवालमें बोलते हैं, दो और दो चार, ऐसे ही समागम बनाना और दुःख भोगना मिलाकर क्या हुआ? जीवन। इस जीवनमें और क्या चीज मिलेगी? जो साधारणतया पुरुषोंका जीवन है उसकी बात कही जा रही है। यह संग मेलमिलापमें क्या तुझे विषाद रूप नहीं करता है?

शरीरकी रोगाक्रान्ता—इस शरीरको देखो, क्या यह शरीर रोगोंके द्वारा छिन्न-भिन्न होकर तुझे पीड़ित नहीं करता है? शरीरमें क्या है? ये हाथ-पैर सब बड़ी सफाईके लग रहे हैं और जहाँ कहीं भी रक्त रुक गया और फुंसी हो गई वहाँ ही यह शरीर विडूरूप लगने लगता है। क्या यह शरीर रोगसे छिन्न-भिन्न नहीं हो जाता? यह संसारकी दशाका वर्णन चल रहा है, ऐसा ध्यान दिलानेके लिये ऐसा इन्द्रजालकी तरह अरम्य अहितरूप इस संसारमें तेरी क्यों स्पृहा होती है? यह मृत्यु क्या तुझे ग्रसने के लिये मुख नहीं उठा रही है? अर्थात् सब मृत्युके मुखमें पड़ गये हैं। पता नहीं किस क्षण कब मृत्यु हो जाये? जैसे स्वयंभ्रमण समुद्रमें बड़ा मच्छ मुंह बाये रहता है। भीतर मछलियाँ लोटती रहती हैं, जिस क्षण उस बड़े मच्छने मुंह दबाया कि १०-५ हजार मछलियाँ एक बार मुंह दबनेसे पेट में चली जाती हैं। इतना बड़ा मच्छ होता है। उसके मुंहमें हजारों मछलियाँ कूदती खेलती रहती हैं पर पता नहीं कि किस क्षण वे अपना जीवन खो दें, ऐसे ही हम आप सब खुश होते हैं, विकल्प करते हैं बहुत-बहुत चिन्तातुर रहा करते हैं। अरे पता तो है ही नहीं कि किस क्षण इसकी मृत्यु हो जाय? तो यह मृत्यु सदा जीवनको भखनेके लिये मुंह फाड़े हुये है।

आपत्तियोंका निर्माण—अहो! देखो अन्य भी अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ विपदाएँ आ रही हैं और किसी प्रकारका उपद्रव आ भी नहीं रहा है तो मनसे कल्पनाएँ करके विपदाएँ बना लेते हैं। जैसा एक छोटा बच्चा मांके पास बैठा है, मां बातोंमें लगी है, बच्चेकी इच्छा हो गई कि घर चलें अरे घर जाकर क्या खा लेगा? मांके पास बैठा है, सारे आराम हैं, गोदमें बैठ जा, सब आपत्तियोंसे दूर है। तुझे और क्या चाहिये, पर हो गया उस बच्चेको विकल्प तो जब तक मां वहाँसे उठ न देगी तब तक

वह बच्चा बैचेन रहता है, रोने लगता है। अरे आपत्तियां उसने बनार्यीं या उसपर आर्यीं? उसने ही विकल्प बनाकर आपत्तियां बनालीं। तो ऐसे ही ये सब अज्ञानी जीव किसी भी प्रसंगमें अट्टसट्ट कुछ भी विचार करके अपने आपमें आपत्तियां बना लेते हैं। इन आपत्तियोंने क्या तुझे पर द्रोह नहीं किया?

भोगोंकी स्वप्नसमता—इस जीवकी दशा बता रहे हैं कि कैसी दशा है? यह संसार कैसा है, इन समागमोंका प्रेम कैसा है? क्या तुझे यह विदित नहीं है कि यह नरक बड़ा भयानक होता है? क्या तुझे यह विदित नहीं है कि ये भोग स्वप्नके समान तुझे धोखा देने वाले हैं? किसीको स्वप्न आ गया कि बड़ा आनन्द भोग रहे हैं, राज्य मिल गया है। शासन कर रहे हैं, मनमाना भोग भोग रहे हैं। किसीने धक्का लगा दिया, नींद खुल गयी, लो सारा वैभव खत्म हो गया। एक भाईको आ गइ नींद। उस नींदमें स्वप्न देखा कि मुझे किसी राजाने ५० घोड़े इनाममें दिये हैं। बढ़ियासे बढ़िया घोड़े हैं। उन घोड़ों के खरीददार आये, खरीददार लोग कहते हैं कि इन घोड़ोंकी कीमत बतावो? सस्ते जमानेकी बात है। वह बोला घोड़ोंकी कीमत सवा-सवा सौ रुपया है। ५०-५० रुपयेमें दोगे? नहीं। अच्छा ११० रुपयेमें देंगे। ६०-६० रुपयेमें दोगे? अच्छा सौ-सौ रुपयेमें ले जावो। ७०-७० रुपयेमें देंगे। ६० रुपयेसे कममें न देंगे। अच्छा ८०-८० रु० में दोगे? अब यहाँ दोनोंमें एक गुच्चसी हो गयी। इतनेमें वह पुरुष जग गया। जगने पर देखा कि यहाँ तो कुछ भी नहीं है, न घोड़े हैं न ग्राहक हैं, तो फिर वह आँखें मींच लेता है वह कहता है अच्छा ८०-८० रुपयेमें ही ले जावो। था वहाँ कुछ नहीं, पर उसने सोचा कि शायद आँखें बन्द कर लेनसे वे घोड़े आ जायेंगे? तो जैसे यह सब स्वप्नका दृश्य है, ऐसे ही ये सब भोगोंके समागम स्वप्नकी तरह हैं।

अतीत भोग—यों भोग स्वप्नवत् हैं इस बातको समझने के लिये उन अतीत बातों पर दृष्टि दो। जिनके साथ आप हिल मिलकर रहे, प्यारसे रहे, सुखपूर्वक रहे और उनका हो गया वियोग तो वियोगके बाद फिर लगने लगता है कि अरे सब स्वप्नका ठाठ था। यह सर्वसाधारणको उस समय विदित होता है कि वह सारा स्वप्न था जब उसका वियोग हो जाय, किन्तु संयोगके समयमें यह ज्ञान करले कोई कि यह सब स्वप्न जैसा ठाठ है तो फिर उसके शंका नहीं रहती। हे मुमुक्षु! हे आत्मन्! क्या ये भोग तुझे स्वप्नकी तरह धोखा देने वाले नहीं मालूम पड़ रहे हैं? खूब सोच लो।

रागमें विडम्बना—रानी रक्ताकी एक कथा है। राजा देवरति अपनी रक्ता रानीसे बड़ा प्रेम करता था। उस रानीके प्रेममें राजा देवरति इतना आसक्त हुआ कि राज्यका सारा कारोबार ढीला पड़ गया, प्रजामें अशान्ति फैल गई। यह हालत देखकर सभी मंत्री राजाके पास पहुँचे और बोले राजन्! आप तो अपनी रानीमें आसक्त हैं, राज्यमें अशान्ति फैल गई है, आप या तो इस राज्यको संभालिये या इस रानीको लेकर नगर से बाहर चले जाइये, हम मंत्रीगण राज्य संभाल लेंगे। राजा रानीको लेकर नगरसे बाहर चला गया। किसी गांवके किनारे डेरा डाल दिया। राजा गांवमें कुछ खरीदने चला गया। राजा तो गांवमें खानेकी चीजें लाने चला गया और गांवके किनारे एक खेत पर एक कूबड़ा व्यक्ति चरस हांक रहा था। उसने कोई गीत गाया तो उस गीतको रानीने सुन लिया। उस कूबड़ेके पास रानी

पहुँची और बोली कि अब तो मैं आपके संग रहना चाहती हूँ। आजसे तुम हमारे हो गये। कूबड़ा बोला कि ऐसा न करो, नहीं तो राजा हमें भी मार डालेगा और तुम्हें भी। रानीने कहा कि उस बातका उपाय तो हम बना लेंगी। बस रक्ता उदास होकर उस झोंपड़ीमें चली गई जहाँ पर ठहरी थी। राजा आया तो उसने रानीको उदास देखा। राजा बोला तुम क्यों उदास हो? तुम्हारे पीछे तो हमने सारा राज्य छोड़ा, तुम अपनी उदासीका कारण बतावो? रानी बोली सुनो आज आपका जन्मदिवस है। यदि महलोंमें होती तो आपका विशेष स्वागत करती, यहाँ किस तरहसे आपका स्वागत करें? राजाने कहा ऐ रानी तू जैसा चाहे हमारा स्वागत कर ले। रानीने कहा देखो फूल ला दो, मैं माला बनाऊंगी। माला बनाकर बोली, जो वह पहाड़ है, उस पहाड़की चोटी पर चलो, वहाँ पर मैं आपका स्वागत करूँगी। राजाने फूल ला दिये और ५०-५० हाथकी लम्बी कई मालायें रानीने बनाई। राजाको उस पहाड़की चोटी पर बिठा दिया और रानीने उस मालावोंसे राजाको कस दिया। जब राजा खूब बँध गया तो एक तेजीका धक्का मारकर राजाको ढकेल दिया। राजा लुढ़कते-लुढ़कते नदीमें जा गिरा।

विधि-विधान—राजा देवरति तो नदीमें बहकर किसी पेड़से टकरा कर किसी किनारे लग गया, नदीसे निकल आया और पासकी नगरीमें चला गया। उन दिनों उस राज्यका राजा मर गया था, सो मंत्रियोंने हाथीकी सूंडमें एक फूलमाला डालकर छोड़ दिया था और यह प्रतिज्ञा की कि यह हाथी जिस मनुष्यके गले में यह जयमाला डाल देगा उसीको हम अपना राजा बनायेंगे। हाथीने वह जयमाला उसी राजाके गले में डाल दी, जो नदीमें बहकर गया था। वह तो वहाँ राजा बन गया और इधर रानी उस कूबड़ेके संगमें हो गई। कूबड़ेको टोकने पर बिठाकर वह जगह-जगह घूमती थी, क्योंकि वह चल नहीं सकता था। वह कूबड़ा काये और वह रक्ता रानी नाचे, इस तरहसे जो कुछ पैसे मिल जायें उन्हींसे दोनों अपना गुजारा करते थे। किसी तरह ये दोनों उस राज्यमें भी नाचते गाते पहुँचे जहाँ वही राजा देवरति राज्य करता था। राजाको पता लगा कि कोई नटनी जो कि पतिभक्त है, अपने पतिको सदा टोकनेमें बैठाकर सिर पर रखकर चलती है, पति तो गाता है और वह नाचती है, यह बात सुनकर राजाने अपने दरबारमें उन्हें नाचने और गानेके लिये बुलाया। वहाँ उस राजाने जब अपनी ही रानीको उस हालतमें देखा तो उसे वैराग्य हो गया। सोचा ओह! यह वही रानी है जिसने मेरे मारनेका उपाय रचा था। राज्यको छोड़कर चल दिया कहा कि धिक्कार है ऐसे जीवन को। तो ये भोग स्वप्नकी तरह असार हे, क्या यह तुझे विदित नहीं है? इस इन्द्रजालवत् पुद्गलके समूहको एकत्रित करनेकी तू इच्छा कर रहा है। अरे इस संसारके भोग साधनोंको असार समझकर अपने आत्महितकी साधनामें लगे। इससे ही तुम्हारा हित होगा।

नासादयसि कल्याणं न त्वं तत्त्वं समीक्षसे।

न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं भ्रातर्भूतैर्विडम्बितः ॥५१॥

विषयविडम्बनासे निवृत्त होनेका उपदेश—हे भ्राता! तू इन्द्रियके विषयोंसे विडम्बित होकर अपने कल्याणको प्राप्त नहीं करता है और तत्त्वका विचार नहीं करता है तथा संसारकी विचित्रताको

नहीं जानता है। यह तेरी अज्ञानता है। इस श्लोकमें चार बातों पर प्रकाश डाला है। यह मोही प्राणी इन्द्रियके विषयोंमें विडम्बित रूप बन रहा है। कहाँ तो इसका सीधा सादा ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप ज्ञायकस्वभाव है और कहाँ यह अपने इस परमस्वभावसे चिगकर बाह्य पदार्थोंमें अपने आनन्दकी आशा रखता है। जो किसी बाह्य पदार्थ में आशा रखे, अधिकारकी कल्पना करे उसको विडम्बना होती ही है। अपने अन्तस्तत्त्वको संभालो और इन्द्रिय विषयोंकी विडम्बनामें मत फंसो।

धनिक बननेके लक्ष्यकी मूढ़ता—भैया! पहिले यह निर्णय कर लो कि तुम्हें क्या बनना है? इस लोकमें करोड़पति, अरबपति बनकर इस कल्पित दुनियामें तुम्हें प्रसिद्ध बनना है क्या? तुम्हारी चाह क्या है? तुम्हारा लक्ष्य क्या है? किस बातमें अपना हित और बड़प्पन माना है? क्या स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियके विषयोंकी मौज ले लेने पर अपनेको खुश करनेका प्रोग्राम बनाया है। तुम्हारे जीवनका लक्ष्य क्या है, पहिले यह निर्णय कर लो। यदि इस लोकमें महा धनिक बननेका लक्ष्य है तो उस पर भी विचार करो। प्रथम तो धनी बननेमें निराकुलता नहीं है। फिर दूसरी बात यह है कि वह धन भी क्षणिक नहीं है, नियमसे नष्ट होगा। वियोग होगा उसका भी तो विश्वास नहीं है कि वह रहे। यदि वह निश्चयरूपसे रहे ही तो चलो कुछ दुःख ही सह लें। सो यह रहता भी नहीं है। फिर जिन जीवोंसे तुम अपने को बड़ा कहलवाना चाहते हो वे जीव भी न रहेंगे, और उन्होंने कह भी दिया तो भी तुम्हारे भक्त बनकर नहीं कह रहे हैं, किन्तु उन्हें भी कुछ प्रयोजन लगा होगा तो आपकी बड़ाई करेंगे। धनी बननेमें कौनसा हित है? उसका लक्ष्य मत बनावो, उसके लिये अपनी जिन्दगी मत समझो।

विषयोपभोगके लक्ष्यकी मूढ़ता—स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें कामसेवनमें यदि हित समझा है, उससे ही अपना बड़प्पन और सुख माना है तो यह बहुत बड़े धोखे वाली बात है। जन्म-जन्मान्तर से यह जीव इन्द्रियके विषयोंको भोगता हुआ मलिन बन रहा है, इसीसे व्याकुलता भी अपने सिर लदी है। यह कामसेवन आत्महितकी बात नहीं है, यों ही समस्त इन्द्रियोंकी बात है। इन्द्रियके किसी भी विषयका लक्ष्य मत बनावो। हम किसलिये जीवित रह रहे हैं इस प्रयोजनके निर्णयके लिये कुछ कहा जा रहा है। यहाँ परिस्थितिवश सब कुछ करना पड़ता है, विषयोंको भोगना, धनका कमाना, धनी होना, सब बातें करनी पड़ती हैं, किन्तु तुम अपने भीतरकी निजकी बात बतावो। क्या यह निर्णय किया है कि हमारा जीवन विभूति मात्र बननेके लिये अथवा इन्द्रिय विषयोंको भोगनेके लिये है। यदि ऐसा विकल्प है तो इस निर्णयको बदलो। ये धोखेकी सारी बातें हैं इन इन्द्रिय विषयोंसे विडम्बनाको प्राप्त मत होवो।

विषय वैभवके लगावमें कल्याणका अभाव—दूसरी बात कही है कि यह जीव अपने कल्याणमें नहीं लगता। कैसे लगे? जब विषयोंकी आधीनता हृदयने स्वीकार कर ली है तो वह विषयोंकी ही धुन बनायेगा? अपने सारे यत्न, अभिलाषायें, चिन्तायें परके प्रसंग में बनेंगी तो आत्मकल्याण कैसे होगा? आत्मकल्याण तो यही है ना कि यह पूर्ण निराकुलताका अनुभव करे, रंच

भी आकुलता न हो। यह निराकुलता केवल स्वके आश्रयमें ही मिलेगी, किसी परके आश्रयमें न मिलेगी।

आत्मोपलब्धिमें दुःखोंका मूलसे विनाश—आप यदि यह आशंका उठाये कि भूख लगती है, प्यास लगती है, ठंड गर्मी लगती है, इनके लिये तो सब कुछ करना पड़ेगा। तो भाई पहिले यह विश्वास बनावो कि यह मैं आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ और इस ज्ञानस्वरूपकी भावनासे मैं कभी इन उपाधियोंसे शरीरोंसे छूटकर केवल रह जाऊँगा, फिर बतावो उसमें क्या भूख होगी, क्या प्यास होगी, फिर कोई उपद्रव नहीं है और यदि इन भूख, प्यासोंके उपद्रवोंके शमनके लिये ही ऐसा करनेके लिये ही अपना जीवन माना हो तो इससे कब तक अपनी साधना बनाये रहेंगे? ये भूख आदिकी परम्परायें तुम्हें दुःखी ही करती रहेंगी। ऐसा उपाय करो ना कि शरीर ही न रहे, फिर भूखादिक किसमें विराजेंगे? यह बहुत बड़ा काम है, सर्वोत्कृष्ट काम है। इससे बढ़कर और कोई हितकी बात नहीं है। यह जीव पाये हुए समागमोंमें ममता बनाकर दुःखी हो रहा है। अपने कैवल्यस्वरूपकी दृष्टि बने तो वहाँ कल्पनाओंका काम नहीं है। कल्याण यही है। अपने आपके स्वरूपमें उपयोगी बनें, यही आत्मकल्याण है।

मोह वस्तुस्वरूपके विचारका अभाव—तीसरी बात कही गई है वस्तुस्वरूपका यह विचार नहीं करता है। कैसे करे? जैसे लोकव्यवहारमें कहते हैं ना, भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कंठीमाला।' हम भूखे बैठे हैं भक्ति न बनेगी। यह अपनी कंठीमाला ले लो। कैसे वह जाप दे। पेटमें तो चूहे लोट रहे हैं, भूखके मारे परेशान हैं, मन तो नहीं लगता। ऐसे ही अध्यात्मक्षेत्रकी बात समझें कि जब परपदार्थोंकी ओर अपना उपयोग लगाया है, इन्द्रिय विषयोंमें यह मन रंगीला बना दिया है तो इस मनमें विषयोंके विचार आयेंगे या तत्त्व विचार आयेंगे? कहाँसे तत्त्वविचार आयेंगे। विषय व्यामोहसे बढ़कर भी कोई विपदा है क्या? लग रहा है ऐसा कि सुखका पथ यही है, और कट रही है आनंदकी सब जड़ें। उस ओर उस व्यामुग्ध पुरुषकी दृष्टि ही नहीं है। इन सब विषयोंका विनाश करनेमें समर्थ तत्त्व विचार है। अपने आपका कुछ ध्यान तो करो, मैं कौन हूँ, किस गुण वाला हूँ, क्या मेरा स्वभाव है, इस समय क्या स्थिति है, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा?

मोहकी विडम्बना—यदि अपने विषयमें कुछ भी विचार नहीं है तो जैसे किसी पागल मुसाफिरको देखकर आप उसका उपहास करते हैं, यह पागल है, इसका कुछ पता ठिकाना ही नहीं है। कहीं रुक जाय, जिसे अपने आपका पता ही नहीं। मैं कहाँसे आया, कहाँ मुझे जाना है? इतना तक भी बोध नहीं कि आखिर मैं हूँ कौन? किस घर का हूँ। तो जैसे पागल मुसाफिर उपहासका पात्र है, बेकार है ऐसे ही यह उन्मत्त जीव जिसे यह पता नहीं कि मुझे कहाँ जाना है, मैं कौन हूँ, जिसे अपनी बातका परिचय नहीं है ऐसे इस उन्मत्त जीवपर क्यों हँसेंगे? ज्ञानीजनोंकी दृष्टिमें वह उपहासका पात्र है।

अज्ञानी जीवके अपनी सुधका व तत्त्वविचारका अभाव—भैया! अपनी सुध लो कि मैं

कौन हूँ। नाम लेकर निर्णय मत करो कि मैं अमुक हूँ, जहाँ यह नामकी आड़ आई कि सारा पासा पलट जाता है। इतना भर सोच लो कि मैं अमुक हूँ, जहाँ नाम लेकर कहा बस वहीं सारी स्थितियाँ खराब हो जाती हैं। फिर परका परिचय, परका संकोच, परके प्रति व्यवहार और सारे उपद्रव लद जाते हैं। जबकि अपने आपको अपनेको नामरूपमें परखा। मैं नाम वाला नहीं हूँ। मैं एक प्रतिभासस्वरूप भावात्मक पदार्थ हूँ, किस स्वभाव वाला हूँ। केवलज्ञाता द्रष्टा रहूँ, ऐसे ज्ञानस्वभाव वाला मैं हूँ। कहाँसे आया हूँ? निकट सहीका पता तो नहीं बता सकता, किन्तु यह कह सकूँगा कि मैं किन्हीं अन्य गतियोंसे आया हूँ। कहाँ जाऊँगा? सही बात तो नहीं सकता मगर अन्दाजा बता दूँगा। अपने परिणामोंको निरखकर अंदाज कर लो। बहुत मूर्च्छा बनी हुई है तो नरकमें जाऊँगा। यदि छल कपटकी प्रधानता है तो पशु, पक्षी, कीड़ा, मकौड़ा कुछ भी तिर्यञ्च हो जाऊँगा। थोड़ा आरम्भ परिग्रह मूर्च्छा है, स्वभावमें नम्रता है तो मनुष्यगतिमें जाऊँगा और कुछ तपस्यामें लगे, व्रत तपमें लगे तो देवगतिमें जाऊँगा, इसका अंदाज है। आज तो मोक्षमें न जा पाऊँगा पर उसकी जड़ हम बन सकते हैं और निकट भवमें ही हम मोक्ष जायेंगे। कुछ तो निर्णय करो अपने आपके बारेमें ही सही, इस इन्द्रजाल, इस विभूतिको निरखकर। यही सब कुछ हमारा है, इस छोटीसी बातमें उलझकर अनन्तज्ञान अनंत आनन्दके विकासको पानेसे क्यों भाग रहे हो? ये सब विकासतत्त्व विचारोंसे उद्भूत होते हैं। यह व्यामोही जीव विषयोंका अनुरागी तत्त्व विचार नहीं कर पाता।

संसार वैचित्र्यकी अनभिज्ञतामें विचित्र दशायें—चौथी बात कही गयी है कि यह संसारकी विचित्रताको नहीं जानता। यह संसार विषम है, दुःखरूप है, विचित्र है, मेरा साथी नहीं है आदिक सही बातोंको नहीं जान पाता। तब संसारमें ही लोभी बन रहा है, सांसारिक समागमोंसे ही अपना बड़प्पन मानता है। जो संसारकी विचित्रतासे इन्द्रियों के विषयोंके प्रेमके कारण विविध देहधारी बनता है। हे मुमुक्षु! अब तो संभाल, अपने आपमें सम्यक्प्रकाशको पाकर विषयोंकी मूर्च्छाका विनाश करो।

असद्विद्याविनोदेन मात्मानं मूढ वञ्चय।

कुरु कृत्य न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम् ॥५२॥

असद्विनोदसे वञ्चनाका निषेध—हे मोही प्राणी! तू अनेक असत् विद्यावोंके विनोदसे अपनेको प्रसन्न कर रहा है। खोटो कलावोंसे, अनेक आविष्कारोंसे, धनार्जनकी कलावोंसे चतुराईसे, शृङ्गारोंसे और शास्त्रोंसे भी जो परिज्ञान करता है वह एक विनोदके लिये करता है। हे आत्मन्! अब मोक्षमार्गमें प्रमाद करके अपने आत्माको मत ठगो। अहो स्वकलासे अपरिचित इस मोही जीवने अपनी कैसी-कैसी चतुराइयां मानी हैं। दूसरोंको हैरान करने और दूसरों को दुःखी करनेमें अपनेको कुछ समझ समझ ले; अर्थात् अपनी बड़ी चतुराई समझें, किसी भी स्वार्थसाधनामें कोई छलका काम करे और उस छलसे कुछ अपनी स्वार्थसाधना बन जाय तो उसमें अपनी चतुराई मानते हैं। हे आत्मन्! अब स्वहितका कार्य करो।

छलीका घात—भैया! जब मिथ्या आशय बन जाता है तो यह मोही प्राणी अपना ही घात करने

वाली प्रवृत्तियोंमें चतुराई समझता है। यदि किसीके प्रति छल किया गया, छल करने वालेने धोखा देकर कुछ अपनी विषयसाधनाकी है तो यह तो बतावो कि जिसने छल किया? वह घाटेमें रहा या जो छला गया वह घाटेमें रहा? देखनेवालोंको तो यही दिखेगा कि जो छला गया वह घाटेमें रहा। इतना वैभव, इतनी दुकान, इतना गहना यह सब उससे निकल गया, लेकिन भावदृष्टिसे, बंधदृष्टिसे भविष्यमें जो फल मिलेगा इस दृष्टिसे देखो तो छल करने वालेने अपने आपको ठग डाला। अपनी प्रभुता का, अपने ज्ञानानन्दके विकासका घात कर डाला। यह छल न करता, अपने निश्छल निश्चलस्वरूपकी आराधनामें लगता तो यह कितना विकसित होता, कितना समृद्ध होता? बजाय इसके कि अब यह अधोगतिको प्राप्त होगा। इन असत् प्रवृत्तियोंसे अपने आत्माको मत ठगावो।

कौतूहलोंसे वञ्चनाका निषेध—घर भरा पूरा है, सुननेको रेडियो भी है और बैठक भी खूब सजा है, मित्रजन आते हैं तो बड़े नाजके साथ वार्ता भी की जाती है, चलने उठने बैठनेमें भी देहसे कलायें टपकती हैं, इन असद् विद्यावोंके विनोदसे अपने आपको खुश बनानेका यत्न रखते हैं, किन्तु हे भव्य आत्मन्! इन असद् विद्यावोंने तेरे इस ज्ञानानन्दनिधान परमात्मतत्त्वको ठगा है। इन कौतूहलोंसे तुम अपनेको मत ठगो।

प्रायोगिक भेदविज्ञान—बच्चे को गोदमें खिलाते हुए भी अथवा खिलाती हुई स्थिति में भेदविज्ञानका आशय बनानेमें मदद और ज्यादा मिल सकती है, जिससे अपने आपको भिन्न समझना है, अपने अन्तरङ्गमें उससे बात करके अपनेको भिन्नताके बोधमें लाया जा सकता है ऐसी स्थितिमें समागमोंके बीच रहकर उससे भेदविज्ञान बन सके तो समझिये कि मेरा मौलिक ज्ञान है। जैसे कोई भोजन करने बैठ जाय और डींग मारे कि मेरे तो आज उस चीजका त्याग है जो चीज थालीमें न आये। तो यह कुछ त्याग नहीं है। लेकिन कोई इतना भी त्याग सच्ची श्रद्धासे करे तो वहाँ भी त्याग है और थालीमें न आये मगर कल्पना जग रही है कि अमुक चीज नहीं परोसो तो यह कोई त्याग नहीं है। खेर, यह भी बड़ी बात है कि न भी कोई चीज थालीमें आये पर उसको कल्पनासे त्याग दे तो यह भी तो त्याग है। परंतु वास्तविक व उत्तम त्याग वह है कि सामने चीज मौजूद हो और फिर भी त्याग कर दे। ऐसे ही पाये हुए समागमोंमें भेदविज्ञान बने, ऐसा करनेका तो गृहस्थोंको बड़ा मौका है। तू अपनी असद् विद्यावोंसे, चतुराईयोंसे अपनेको मत ठग। तेरे लिये जो कार्य हितकर न हो। उसे तू मत कर। जगत्के समस्त कार्य विनाशीक हैं, क्या तू इस संसारकी असारताको नहीं जान रहा है? सम्यग्ज्ञान कर और आत्मकल्याणमें लग, यही तेरा भलाईका मार्ग है।

समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय।

अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धि समाश्रय ॥५३॥

समताका उपदेश—हे आत्मन्! तू समस्त जीवोंको एकसा जान, अन्य जीवोंके ममत्व को छोड़कर निर्ममत्वका चिन्तर कर। मनकी शल्यको दूर करके भावशुद्धिका आश्रय कर। इस श्लोकमें ४ बातों पर प्रकाश डाला है, पहिली बात यह कही है कि सर्वप्राणियों को तू समतासे भज, इस

समताकी दो पद्धति हैं। प्रथम तो सर्वप्राणियोंका स्वरूप है उसकी दृष्टिमें लो और सर्वजीवोंको समान समझो। प्रत्येक जीव ज्ञानानन्द पुञ्ज एक स्वरूप है, ऐसी उनमें समताकी दृष्टि करे और दूसरी पद्धति यों हैं कि सर्व प्राणियोंमें तू रागद्वेष न करके समता परिणामको कर। इन दोनों बातोंका परस्परमें सम्बन्ध है। हम अपनेमें रागद्वेष न करके समता परिणामको रखना चाहें तो हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम सर्व जीवोंका वह यथार्थ और समान स्वरूप समझलें।

समताका प्रयोग—भैया! जब कभी किसी मनुष्यपर जोर दिया जाता है अरे क्यों इतने रागमें पड़ रहे हो? छोड़ो, इतना क्यों तुम अपराध और मोह कर रहे हो तो कहना तो सरल है और वह विपत्तियोंसे ऊब कर छोड़ना भी चाहे तो उसको भी छोड़ना कठिन है। यह छूटेगा तभी जब हम जिन जीवोंमें रागद्वेष मोह किया करते हैं, उन जीवों का परमार्थस्वरूप जान लें तब रागद्वेष मोह छूटनेकी बात बनेगी। इस परमार्थ ज्ञानके होते ही ये सब निवृत्त होने लगते हैं। इसलिये इस अंशका हम दो प्रकारसे दर्शन करें। सर्वप्राणियोंमें वह स्वरूप निरखो जो स्वरूप सबमें एक समान है; जैसे पारिणामिक भावकी अपेक्षा किसी भी जीवमें परस्पर असमानता नहीं है, ऐसे शुद्ध अनादि अनन्त चित्तस्वभाव रूप हम सब प्राणियोंको निर्णयमें लें तो ये रागद्वेष मोह दूर होंगे, ममता दूर होगी।

मोह किससे—भैया! घरमें बसने वाले जिन जीवोंमें गहरा राग चल रहा है और जिस रागके कारण निरन्तर बेचैनी चल रही है उन जीवोंके प्रति यह दृष्टि दें कि ये जो घरमें बसने वाले लोग हैं, ये तीन प्रकारके पदार्थोंके पिण्ड हैं। देख देखकर बोलिये, सोच सोचकर बोलिये। जीव और शरीरवर्गणायें और कार्माणवर्गणायें यों कुछ मुख्यतासे कह रहे हैं। इन तीन व्रतोंके ये पिण्ड हैं। इनमें से हमारा सम्बन्ध तो न कार्माणवर्गणाओं से है, न शरीर वर्गणावोंसे है। अब रह गया वह एक जीव तो उस जीवसे भी कोई क्या कुछ सम्बन्ध बनाये हुए हैं, उस जीव जैसा है वैसा विदित हो तो उससे कुछ क्या व्यवहार चलता है? उस जीवमें भी परमार्थस्वरूप निरखें तो वहाँ फिर मोह नहीं ठहर सकता। अतः सर्व प्राणियोंमेंसे ऐसे समानस्वरूपकी दृष्टि करें और उनमें समता धारण करें, किसी से राग न हो, किसीसे विरोध न हो, केवल एक ज्ञातृत्व रहे, ऐसी समताको प्राप्त करें और अपने आपको निर्ममत्व विचारें।

स्वरूपकी संभाल—मेरेमें विभाव नहीं है, ये जड़ पौद्गलिक विभाव मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, उनसे मैं रहित हूँ जिनका कि वर्तमानमें बन्धन है। स्वरूपको संभालें। मैं इस देहसे भी रहित हूँ और अंतःपूर्ण हूँ। मोहादिक विभाव ये भी मेरे स्वभावकी कलासे मेरे ही केवल सत्त्वके कारण सहज विकसित नहीं हुए हैं। ये परभाव हैं, परपदार्थोंका निमित्त पाकर ये उत्पन्न हुए हैं। इन मिथ्यात्व आदिक भावोंसे भी मैं रहित हूँ, ऐसे द्रव्यकर्म, भावकर्मसे रहित केवल एक चित्प्रकाशमात्र अपने आपका चिन्तवन करो।

मनकी शल्यका परिहार—तीसरी बात इस श्लोकमें कही गयी है कि मनके शल्यको निकाल दो शल्य कहो या क्लेश कहो। मनके क्लेशको दूर करो। जो क्लेश दृढ़तासे चिरकाल तक

वासनापूर्वक बना रहता है उस क्लेशको मिथ्या कहते हैं। मनकी शल्यें कौन नहीं जानता है? शल्योंके कारण यह जीव कायर बन जाता है, अपने अन्तःस्वरूपको खो देता है, प्रसन्नता नहीं रहती है। वह शल्य किसी बाह्य पदार्थमें ममता जगानेसे होती है। वह शल्य किन्हीं जीवोंके परस्परके व्यवहारमें एक मिथ्या आचरण करनेसे हो जाती है। किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, यों छल-कपटकी बातकी अथवा बुरा व्यवहार किया, उससे भी शल्य बन जाती है, और अपने मनमें ऐसा मनसूबा बांधना अमुक पदार्थ मिले यों मिले इस आशासे भी शल्य बन जाती है। हे आत्मन्! यदि शान्ति चाहता है तो अपने मनसे इन शल्योंको दूर कर। इन शल्योंके दूर करनेमें कोई विकट काम नहीं करना है, किन्तु चित्तमें एक साहस बनाकर निर्णय बना लेना, सर्वपदार्थ जुदे हैं, उनके संचयसे उनके ग्रहणसे, उनको उपयोगमें लेनेसे यहाँथमेरी कुछ सिद्धि नहीं है। मैं सदासे अकेला ही था, अब भी अकेला हूँ, भविष्यमें भी सदैव अकेला रहूँगा, ऐसा अपने मनमें निर्णय बनानेसे कितना ही शल्य समाप्त हो जाता है। मनकी शल्योंको तू दूर कर।

भावशुद्धिका अनुरोध—चौथी बात कही है कि अपने भावोंकी शुद्धिका आश्रय कर। भावशुद्धि नाम है रागद्वेष न रहनेका। किसीका भी प्रसंगमें चाहे गृहका प्रसंग हो, चाहे समाजका प्रसंग हो, चाहे ज्ञानचर्चाका प्रसंग हो, किसी भी काममें पक्ष न हो। उसमें अपने आपको प्रसन्न रखनेके लिये जैसा जो विकल्प बनाया उस विकल्पका हठ न करना इससे भावशुद्धि प्रकट होती है। हे आत्मन्! तू इन चार सद्उपायोंका सेवन कर। सबमें समता धारण कर। अपनेको निर्मोह विचार। मनके शल्यको दूर कर और अपने भावोंकी शुद्धिका आश्रय कर।

चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावशुद्धये।

याः सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः ॥५४॥

भावशुद्धिके लिये भावनाओंका उपदेश—शुद्ध भावोंके लिये क्या उपाय करना चाहिये? इसका वर्णन इस श्लोक में किया है। हे भव्य! तू अपने भावोंकी शुद्धिके लिये अपने चित्तमें बारह भावनाओंका चिन्तन करो। जिन्हें देवाधिदेव तीर्थंकर भगवानने सिद्धान्त महातंत्रमें प्रतिष्ठित किया है। जब हम बारह भावनाओंका चिन्तन करते हैं तो आत्मामें रागद्वेष हटकर एक ममता प्रकट होती है। जिसे पंडित दौलतरामजी ने कहा है— इन चिन्तन समसुख जागे, जिमि ज्वलन पवनके लागे। इन भावनाओंका चिन्तन करनेसे समता का सुख जगता है। जैसे कि हवाके लगनेसे अग्निज्वलन जगती है। सन्तोष इन बारह भावनाओं के फलमें अवश्य मिलता है।

विपरीत भावनामें शान्तिका अभाव—देखिये, जब हम अनित्य पदार्थको नित्य मान रहे हैं तो इसमें अनेक आकुलताएँ होती हैं। इस अनित्यको अनित्य समझा जाय तो हमारी आकुलतामें अन्तर पड़ जाता है। जो समागम मिला है घरबार परिजन समूह इन सबके भीतरमें मोहियोंके यह श्रद्धा बसी है कि ये मेरे हैं नष्ट न हों। भले ही प्रकरणवश इस प्रसंगमें वह ऐसा कह दे कि सब अस्थिर है, सबका वियोग होगा लेकिन चित्तमें ऐसी भीतर कोई गांठ पड़ी हुई है कि वहाँ यह बात नहीं समा पाती

है कि जो कुछ हमें मिला है यह भी नष्ट होगा; जैसे मरघटमें किसीको जलाने जाते हैं तो वहाँ बहुत कुछ खबर आती है कि इसी तरह हमें भी मरना है, बहुत-बहुत यह बात मनमें भिदती है पर और भीतर जरा नहीं भिद पाती है। ये भावनाएँ तो मरघटमें ही आती हैं। जहाँ वहाँसे चलकर किसी तालाबमें स्नान किया कि उन सारी भावनावोंको पानीके साथ धो देते हैं।

मिथ्यात्वकी गांठ—यह मोही जीव कभी धर्मकी शेखी भी दिखाता है कि संसार असार है, वह भी केवल एक बीचके पर्देकी बात है, वह भी यथार्थतया श्रद्धामें बसी हुई नहीं है। जब दूसरेका वियोग देखकर मरण देखकर चित्तमें यह ठोकर लग जाती है कि कहीं मेरा ऐसा न हो जाये तो उस दुःखके मारे यह संसारको असार कहता है। सचमुच संसार असार है ऐसे स्वरूपको दृष्टिमें लेकर नहीं कहा। किन्तु अपने आपमें जो एक वेदना हुई, ठोकर लगी, शंका हुई, भय बन गया है उसके कारण मुखसे कह देता है कि सारा संसार असार है। तो कितनी मोहकी गांठ पड़ी हुई है, वह गांठ क्या है? मिथ्यात्व।

मिथ्याका शब्दार्थ—मिथ्याका अर्थ क्या है? मिथ् धातुसे बना मिथ्या। मोहका नाम मिथ्यात्व है। दो या अनेक पदार्थोंका जो मेल है, वह है झूठ। इसलिये मिथ्याका भी अर्थ लोग झूठ कहने लगे। मिथ्याका सही अर्थ झूठ नहीं है। मिथ्याका अर्थ है मेल मिलाप। मेल मिलाप है असत्य। मिथ्या शब्द मिथुन मिथ् धातुसे बना है जिसका रूप भी बनता है। इसी रूपमें मिथ्या शब्द बना है। तो मिथ्याका अर्थ है दोका या अनेकका सम्बंध। यह अवास्तविक है। जितनी वस्तुओंका मेल होकर बना है वह एक मेलरूप पिण्ड किसीएक वस्तुमें नहीं पड़ा है इसलिये अवास्तविक है, झूठ है, यह व्यवहारदृष्टिसे है, स्वरूपदृष्टिसे झूठ है। तो स्वरूपदृष्टिसे मिथ्या; अर्थात् मेल मिलाप सही नहीं उतरते। इस कारण मिथ्याका नाम लेकर मेलमिलाप प्रसिद्ध न होकर सीधा झूठ प्रसिद्ध हुआ है।

दानके तात्पर्यका उदाहरण—जैसे दान नाम त्यागका है। त्याग किया उसका नाम दान है, पर दान किया इसको ऐसा कहनेके एवजमें यदि यह कहनेकी रूढ़ि होती कि इसने त्याग किया तो कुछ बुद्धि संभली हुई रहती है, उस त्याग किएके एवजमें इसने दान किया बोला तो उसका कुछ ऐसा रूपक बन गया कि दान करने वालेको उस दानमें ममता हो गई, अथवा दान देकर यश नाम आदिक किसीकी ममता हो गई। त्याग शब्द का प्रयोग हो तो इतनी विडम्बनाएँ न होंगी। लेकिन इस सम्बंधमें सोचना यों व्यर्थ है कि दान किए कि जगह त्याग किया ही प्रयोगमें लाया जाता तो इस प्रयोगकी भी वही दुर्दशा बना दी जाती है जो दान शब्द बोलकर दुर्दशा बना रहे हैं। मोहका नाश भी अद्भुत है।

अनित्यमें नित्यकी कल्पनाकी वेदना—अनित्य पदार्थोंको हम जब तक नित्यरूपसे समझते हैं तब तक बहुत परेशानी है, अचानक वियोग होने पर बड़ी चोट लगती है। हाय यह हो गया, अनहोना हो गया। यदि अनित्यको नित्य समझते होते तो दुःखी न होते। लो हम इस अनित्य वस्तुओंको पहिलेसे ही जान रहे थे कि जो समागम मिले हैं वे किसी दिन विघट जायेंगे। ऐसा हम पहिलेसे निर्णय किये हुए थे। जब विघटनका समय आया तो पहिले ही यह आवाज निकली कि देखो हम तो पहिलेसे ही जान रहे थे कि यह नष्ट होगा। वहाँ वह विह्वलता नहीं आ सकती।

भावनाका धर्मपालनमें स्थान—इन बारह भावनावोंका बड़ा प्रमुख स्थान है। आत्म-हितके लिये और एक सीधा उपाय है हितके लिये तो बारह भावनावोंका। थोड़ा भी जानने वाला पुरुष इन बारह भावनावोंके चिन्तनके प्रसादसे अपनेको कल्याणमें ले जायेगा और कितना भी ज्ञान होने पर भी बारह भावनावोंसे रहित वृत्ति बने तो वह ज्ञान जड़ धन जैसा काम करता है। जैसे मकान आदिक जड़ पदार्थ मिले हैं तो उनके मेलसे एक अहंकार भाव आया, एक सांसारिक मौज लेनेका भाव बनाया करते हैं इसी प्रकार आत्म हितकारिणी इन भावनावोंसे रहित होकर यह ज्ञान वाला पुरुष भी इस ज्ञानके समागम से अहंकार भाव बनानेमें जो सांसारिक मौज मिला है उससे खुश रहनेका भाव-ये सब बातें बनने लगती हैं। इन भावनावोंका कितना उपकार है? इस उपकारको वही पुरुष जानता है जो इन भावनावोंको पाकर अपनेमें कुछ लाभ उठा लेता है। हे भव्य! तू अपने भावोंकी शुद्धिके लिये तू अपने चित्तमें बारह भावनावोंका चिन्तन कर।

अनित्य व अशरण भावनाके मर्मका उदाहरण—इन भावनावोंका स्वरूप इस ग्रन्थमें आगे विस्तारसे आयेगा, किन्तु थोड़ा-बहुत तो भावना-अनित्यको मर्म अर्थ उनका नाम लेनेसे ही विदित हो जाता है। अनित्य भावना-अनित्यको जानना, नित्यको नित्य जानना। यह ज्ञानपद्धति नित्य भावनाको पुष्ट करती है। अशरण भावना मेरा जगत्में कहीं कुछ शरण नहीं है। मेरा मात्र मैं ही शरण हूँ। ऐसी विधिमुखेन व निषेधमुखेन अशरण भावना भानेसे कल्याण फल प्राप्त होता है। केवल यदि यही जानते रहें कि मेरा जगत्में कोई शरण नहीं है तो यह बजाय सन्तोषके और ज्यादा विकल हो जायेगा और अधिक दुःखी हो जायेगा। कहीं इसे शरण ही नहीं मिल रहा, पर बाह्य वस्तु मेरेको शरण नहीं है, ऐसी भावनाका फल उसे मिलता है जिसकी यह प्रतीति बनी है कि मेरेको मेरा आत्मस्वरूप शरण है। यह शरणभूत मैं स्वयं हूँ, ऐसी प्रतीति हो उसे ही तो बाह्य की अशरणताका परिचय मिलता है।

संसार एकत्व आदि भावनाका निर्देशन—यह सारा संसार असार है, असार है ऐसा गा गाकर कुछ जगह-जगह डोले भटके, कहीं जायें कहीं सिर मारें, कहीं कुछ भी करते रहें पर जब तक यह विदित न होगा कि सारभूत मेरेमें मेरा स्वरूप यहीं विराजमान है, यह परमात्मतत्त्व, यह अन्तस्तत्त्व ही एक सर्वोत्कृष्ट सारभूत है, इतनी बातका परिचय न हो तो सारे संसारको असार-असार गाकर भी कुछ संतोष नहीं पाया जा सकता है। यों ही एकत्व भावनामें अपनेको अकेला चिन्तन करना। ऐसा अकेला नहीं कि लोगों ने मुझे न माना कि मैं अकेला रह गया, किन्तु अपने आपमें जो सहजस्वरूप है उस एकत्वके चिन्तनके साथ भावना हो, फिर व्यावहारिक एकत्वका चिन्तन यथासमय हो। ऐसे ही अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वरूप चिन्तन इन समग्र भावनाओंके निश्चय और व्यवहारकी दृष्टिसहित हम चिन्तन करें तो इससे भावों की शुद्धि होती है। सिद्धान्त महातंत्रमें आत्मशुद्धिके लिये इन भावनाओंकी बड़ी प्रतिष्ठा की है।

ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशामसिद्धये ।

आलानिता मनः स्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ॥५५॥

मुमुक्षुओं द्वारा भावनाओंका आदर—मोक्षाभिलाषी साधु संतोंने अनित्यादिक बारह भावनाओंका संवेग, वैराग्य, यम व प्रशमकी सिद्धिके लिये अपने मनरूपी खम्भेमें बांधा है अर्थात् मनमें उन्हें ठहराया है। धर्मसे अनुराग करने व संसारसे भय करनेको संवेग कहते हैं। संसार शरीर व भोगोंसे विरक्त होनेको वैराग्य कहते हैं। यावज्जीव अहिंसादि महाव्रतोंके धारण करनेको यम कहते हैं। कषायोंके दूर करनेको प्रशम कहते हैं। इन गुणों को सिद्धिके लिये साधु संतजन अनित्यादिक बारह भावनाओंको भाते हैं।

अनित्याद्याः प्रशंस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।

या मुक्तिसोधसोपानराजयोऽत्यन्तबन्धुराः ॥५६॥

भावनाओंकी प्रशंसा—मुमुक्षु सत्पुरुषोंने अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, लोक निर्जरा, लोक बोधिदुर्लभ, धर्मचिन्तन इन बारह भावनाओंकी प्रशंसा की है। ये बारह भावनायें मुक्तिरूपी महलपर चढ़नेके लिये सीढ़ियोंके समान हैं। जैसे लोग सीढ़ियोंका सहारा लेकर महलके ऊपर चले जाते हैं इसी प्रकार भव्यजन इन अनित्यादिक बारह भावनाओंके भानेका सहारा लेकर मुक्तिमहलमें पहुँच जाते हैं। इस ज्ञानार्णव ग्रन्थमें मोक्षमार्गमें सहायक ध्यानका प्रतिपादन मुख्यरूपसे है। उस ध्यानमें साधक १२ भावनायें हैं। इस कारण अब प्रथम ही प्रथम बारह भावनाओंका वर्णन किया जायेगा।

ज्ञानार्णव प्रवचन प्रथम भाग समाप्त